भारतीय साहित्य के निर्माता

प्रिथीराज राठौड़

रावत सारस्वत



साहित्य अकादेमी

Prithuraj Rathod A monograph by Rawat Saraswat on the Rajasthani author Sahitya Akademi, New Delhi (1984), Rs 4

प्रथम सस्करण : १६८४

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, ३५, फीरोजशाह रोड, नई दिल्ली ११०००१

क्षेत्रीय कार्यालय

ब्लाक V-बी, रवीन्द्र सरोवर स्टेडियम, कलकत्ता ७०००२६

२६, एल्डाम्स रोड (द्वितीय मजिल), तेनामपेट, मद्रास ६०००१८

१७२, मुम्बई मराठी ग्रन्थ सग्रहालय मार्ग, दादर, बम्बई ४०००१४

मूल्य

चार रुपये

मुद्रक

भारती प्रिण्टर्स,

दिल्ली ११००३२

विषय-क्रम

प्रिथीराज का युग

विगत पाँच शताब्दियों से निरन्तर होते हुए मुस्लिम आक्रमणो के परिणामस्वरूप, तथा केन्द्रीय सत्ता मे बार-बार होने वाले परिवर्तनो के कारण समूचे देश म जो अस्थिरता एव अशान्ति व्याप्त थी, उसे सुदृढ स्थिरता एव अपेक्षाकृत शांति की स्थिति मे बदल देने का श्रेय मुगल साम्राज्य के सर्वश्रेष्ठ अधिष्ठाता के रूप मे अकबर को प्राप्त हुआ। उसने अनेक सफल सैनिक अभियानो द्वारा समस्त उत्तरी भारत एव सुदूरपूर्व के तथा सीमात प्रदेशो को एक केन्द्रीय सत्ता के अधीन करने का प्रयास किया। अकबर की एक बहुत बडी नीतिगत विजय यह मानी गई है कि उसने अनेक राजपूत राज्यो से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर उनका सहयोग प्राप्त किया। तत्कालीन राजस्थान चौहान, राठौड, पँवार, गौड, कछवाहा आदि अनेक क्षत्रिय जातियों के छोटे-छोटे राज्यो में बँटा हुआ था, जो किसी-न किसी प्रकार से केन्द्रीय सत्ता के अधीन रहते आये थे। यद्यपि मवाड के गुहिल सदैव ही एक महान शक्ति के रूप मे रहे थे, पर खानवा के युद्ध मे बाबर के हाथो सागा की पराजय से उस शक्तिमत्ता की बडी क्षति हो गई थी। सागा का यह शक्ति-परीक्षण मात्र गुहिलों का ही नही अपितु समस्त राजपूत राज्यो का कहा जाना चाहिए, क्योकि उन अनेक राज्यो न भी उसम हिस्सा लिया था। मारवाड मे मालदेव का अभ्युदय भी अधिक टिका नही रह सका और उसे शेरशाह के हाथो पराजय का मुख देखना पडा। उसके पुत्र उदयसिंह को अकबर की शरण लेनी पडी। बीकानेर के राव कल्याणमल तथा जयपुर के भारमल ने अपनी लडकियाँ देकर बादशाही मेहरबानी हासिल की। इन क्षत्रिय कुलो के अनेक व्यक्तियो को मुगल सेना मे मनसब देकर तथा दूसरी सेवाओ मे रखकर इन वैवाहिक सम्बन्धो को दृढतर बनाया गया। इनके साथ ही बहुसंख्यक राजपूतो को सेना मे भर्ती करके आकर्षक रोजगार प्रदान किया गया। मेवाड के अतिरिक्त शेष सभी तत्कालीन राजपूत राज्य राजनीतिक दृष्टि मे तो परावलम्बी थे ही, आर्थिक रूप मे भी उनकी स्थिति शोचनीय ही थी। आमेर का राज्य मेवातियो, पठानो आदि से तो त्रस्त था ही, स्थानीय मीणो ने भी उसके नाक मे दम कर रखा था। भारमल ने जिस सकटापन्न पारिवारिक स्थिति से उबर कर गद्दी हासिल की थी, उसमें उसके लिए अपना अस्तित्व बनाये रखना

एक चुनौती बन गई थी। इसीलिए उसने न केवल अकबर को अपनी लड़की दी, बल्कि इससे पूर्व अजमेर के सूबेदार हाजीखाँ को शान्त करने के लिए भी अपनी एक लड़की दी थी। यदि वह ऐसा नहीं करता तो आक्रामकों से घिरी हुई उसकी छोटी-सी रियासत अधिक टिक नहीं पाती। अकबर का संरक्षण पाकर ही वह न केवल निश्चिन्त हो गया, अपितु उसके निष्कंटक राज्य और भौतिक श्रीवृद्धि का सूत्रपात भी हुआ। उधर जोधपुर और बीकानेर के राठौड़ पारस्परिक कलह में आमग्न थे। बीकानेर के नवगठित राज्य के लिए जोधपुर के अधिक समर्थ राज्य का सामना करना कठिन था। इसी उद्देश्य से राव कल्याणमल ने शेरशाह की मदद ली थी और अकबर का संरक्षण प्राप्त करने के लिए उसे लड़कियाँ सौंप दी थी। इस सम्बन्ध से प्रेरित होकर ही अकबर ने कल्याणमल के पुत्र-पौत्रों को राजकीय सेवा का अवसर दिया था। मेवाड़ पर आक्रमण करके चित्तौड़ को ध्वस्त करने का अकबर का प्रयास गुहिलों की शक्ति को क्षीण करने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। महाराणा कुम्भा तथा सांगा के समय का उसका गौरव सदा के लिए समाप्त हो गया था भले ही वे नाममात्र के लिए अपने आपको अपराजित स्वतन्त्र समझते रहे हों। सामन्त राज्यों पर उनके वर्चस्व का प्रायः अन्त ही हो गया था।

असिजीवी क्षत्रिय समाज के लिए मुगलों का यह उत्कर्ष एक प्रकार से वरदान ही था। बहुसंख्यक राजपरिवारों के व्यक्ति मनसबदार बनते जा रहे थे, जिसमें सैनिक सवारों के रूप में साधारण क्षत्रियों के लिए भर्ती के नये द्वार खुले थे। अपने राज्यों में उन्हें सैनिक सेवाओं का जो नाममात्र का पारिश्रमिक मिलता था उसकी तुलना में मुगल सेना का वेतन और अन्य सुविधाएँ कहीं बढ़ी-चढ़ी थीं। इनके अतिरिक्त सैनिक अभियानों की लूट-खसोट में भी उन्हें कुछ-न-कुछ प्राप्त होता रहता था। यह बात दूसरी थी कि मनसबदार लोग अपने अधीनवर्ती सैनिकों और उनके घोड़ों का वह पूरा वेतन नहीं देते हों, जो उनके लिए नियत था। ऐसा वेतन एकमुश्त उतने मूल्य की जागीर के रूप में प्रदान किये जाने के कारण भी सैनिकों को सीधा वेतन नहीं मिल पाता था। फिर भी जहाँ रोजगार का मिलना ही प्रधान बात हो, वहाँ इन कमियों की चर्चा व्यर्थ थी। इस प्रकार, क्षत्रिय राज्यों और उनके सैनिकों की सुधरती आर्थिक स्थिति का लाभ उन-उन राज्यों की साधारण माली हालत पर पड़ना भी स्वाभाविक था। इन्हीं सैनिकों के साथ 'बहीर' में चलनेवाले व्यापारियों तथा अन्य शिल्पियों-श्रमिकों को भी साधन-सम्पन्न बनने में सहायता मिली। दूर-दूर के सैनिक अभियानों में जानेवाले ये सैनिक और 'बहीर' के लोग अनेक तरह के अनुभव और सामान लेकर स्वदेश लौटते, जिनसे स्थानीय गाँवों और बाजारों में एक नई हलचल उत्पन्न होती और व्यापारिक यात्राओं की लालसा जगती। इन्हीं राजकुलों के साथ पण्डित, वैद्य, कवि, परिचारक आदि अनेक लोग और संलग्न अन्तःपुरों की स्त्रियों की दासियाँ

भी इन अभियानो मे साथ रहती। राजपूत मनसबदारो के खेमो से सटे ये छोटे-से-छोटे गांव प्राय भ्रमणशील जीवन यापन करते पूर्व स पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक की दूरियाँ नापा करते थे। देश के अन्यान्य भागो की समृद्धि और मुगल अमीर वर्ग के वैभव से उनके हृदय भी उस जीवन के प्रति उत्कट लालसा से उमगे रहते थे।

पर दूसरी ओर, उनका अपना राज्य-प्रबन्ध पराश्रित होता जा रहा था। लम्बी अवधि तक अभियानो म सलग्न रहने और घर आने का अवकाश नही मिलने के कारण उनकी आन्तरिक व्यवस्था व्यापारी वर्ग के लोगो द्वारा ही सचालित होती थी। इस विवशता का लाभ उठाकर इन वणिक् दीवानो ने राज-परिवारो को अपनी राजनीतिक कुटिलता के शिकजे मे कस लिया था। इससे पूर्व भी आर्थिक दृष्टि स अक्षम रहने के कारण इन राज्यो को साहूकारो से सहायता लेनी पडती थी। बडे पूंजीपतियो, व्यापारियो और साहूकारो को अपने अपन राज्यो मे आकर्षित कर बसाने की एक होड सी लगी रहती थी। वे लोग भी जहाँ कही अधिक सुविधाएँ मिलती और सुरक्षा का विश्वास होता, वही बसना पसन्द करते थे। ऋण आदि देकर वे सहज ही राजपरिवारो तथा अन्य अनेक साधारण लोगो को अपने वशवर्ती बना लेते थे। व्यापार के सिलसिले मे माल के आवागमन तथा लेन देन के लिए उन्हे भी काफी सख्या मे विश्वस्त व्यक्ति रखने पडते थे। इस कारण उनके प्रभुत्व का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता रहता था। राजपरिवारो के वैवाहिक सम्बन्ध, रावलो की व्यवस्था, राज्यो का साधारण रख-रखाव आदि सभी मे उनका दखल रहता आ रहा था। इतना ही नही, सैनिक अभियानो मे दोनो पक्षो का विश्वास प्राप्त कर वे अपने व्यावसायिक लाभ के साथ ही, अन्य स्वार्थ भी सिद्ध करते थे। उत्तर मुगल काल मे अनेक राज्याधिपतियो ने इस समाज पर अपना कोप प्रकट किया था, पर उनकी जडें बडी गहरी थी, जिन्हे उखाड फेंकना सम्भव नही हो सका। जयपुर के झूंथाराम सगही तथा बीकानेर के कर्मचन्द मेहता के उदाहरण इसी समस्या को प्रकट करते है। राजघरानो से नीचे उतर कर यह व्यवस्था छोटे-बडे ठिकानो तक भी पहुँच गई थी और कामदारो के रूप मे वणिज वर्ग के लोग ही हावी होने लगे थे। साधारणत राजपूत समाज व्यवस्था तथा हिसाब किताब के कामो मे न तो भलीभाँति शिक्षित ही हो सका और न सैनिक कार्यों के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य मे उसकी रुचि ही थी, इसलिए वणिको के इस बढते वर्चस्व को रोकने का कोई विकल्प नही था।

मरुस्थलीय क्षेत्रो मे कृषिकर्मी जातियाँ वर्षा के भरोसे अपना जीवन-यापन करती थी। खालसा और जागीर के सभी गाँव राजाओ और जागीरदारो की निरन्तर बढती हुई माँगो को पूरा करने मे असमर्थ रहने के कारण अपनी प्राथमिक आवश्यकताएँ भी बडी कठिनता से पूरी कर पाते थे। सयुक्त-परिवार-प्रथा होने

के कारण जनबल के धनी कुछ परिवार अपेक्षाकृत अच्छी स्थिति मे भले ही रहे हो, पर औसत कृपक के लिए कृषि ही एकमात्र आधार थी। उसके असफल होने पर भूखो मरने की नौबत आ जाती थी। पशुधन के सहारे थोडा गुजारा चल पाता था। पर अकाल की स्थिति मे उसे भी मालवा की ओर ले जाकर जिन्दा रखना पडता था। सिंचाई के साधन जिन राज्यो मे उपलब्ध थे, उनकी स्थिति अधिक अच्छी थी। पर लोग वाग के भार और ग्रासियो की ज्यादतियो से वे लोग भी त्रस्त रहते थे। दूसरे, कारू-शिल्पी लोगो का भी प्रधान अवलम्ब कृषि रहने के कारण वे भी उसी अनुपात मे सुख-दुख के भागी बनते थे।

बुद्धिजीवी वर्गों मे व्यवसायी वणिको और हस्तशिल्पियो के अतिरिक्त ब्राह्मण, भाट, चारण आदि थे। भाटो और चारणो का सम्बन्ध तो राजपरिवारो, राजपुरपो और क्षत्रियो तक ही सीमित था पर ब्राह्मण अपने धार्मिक ज्ञान के एकाधिकार के कारण सर्व सम्मान्य थे। उनके सामने जीवन यापन का प्रश्न तो कभी रहा ही नही था, पर हाँ, समृद्धि का उतार चढाव तो आश्रयदाता क्षत्रिय अथवा वणिक के अनुरूप ही चलता था। ब्राह्मण प्राय ज्योतिषी, वैद्य, कर्मकाण्डी, कथावाचक आदि व्यवसायो मे लगे रहते थे। पारम्परिक उच्च शिक्षा भी उन्ही क परिवारो मे थी। वणिक लोग भी हिसाव-किताव की दक्षता अपने समाज मे ही प्राप्त कर लेते थे और चारण-भाट भी परम्परागत काव्य-कला घरो मे ही सीख लेते थे। अधिक सौभाग्यशाली लोग किसी अधिक कुशल कवि का सान्निध्य प्राप्त कर पाते थे। पुस्तक लेखन का कार्य प्राय ब्राह्मण, मथेन, सेवक, भोजक आदि जातियो के लोग करते थे। चारण, भाट अपनी रचनाएँ अपने ही स्तर पर लिपिवद्ध करवा लते थे। ग्रन्थ-रचना का कार्य धार्मिक सम्प्रदायो मे भी प्रचुर मात्रा मे होता था। जैन मुनि और आचार्य अपने धार्मिक ग्रन्थो को लिपिवद्ध करते रहते थे और स्वय भी अनेक तरह से पारम्परिक रचनाएँ करते थे। सस्कृत एव प्राकृत भाषाओ और साहित्यो के अध्ययन के लिए व्याकरण तथा काव्य-ग्रन्थो का पठन-पाठन भी प्रचलित था। विविध विषयो के विशिष्ट ग्रन्थो पर सस्कृत एव भाषा की टीकाओ का भी प्रचलन था। काव्यो और वार्ता ग्रन्थो को चित्रित करनेवाले चित्रकार भी थे, जो राजभवनो, देवालयो आदि को भी चित्रो और अलकरणो से सजाते रहते थे। देवभवनो का निर्माण सतत् रूप से चलता रहता था, जिनके लिए मूर्तिकार भी व्यस्त रह सकते थे। सम्पन्न व्यक्तियो के आवास भी तक्षण किए हुए पत्थरो, काष्ठद्वारो आदि मे सजाने मे शिल्पियो की आवश्यकता बनी रहती थी। सोने-चांदी के आभूपणो तथा रगीन और छपाई के वस्त्रो की मांग बराबर बनी रहती थी, जिसस इन शिल्पियो का काम भी चलता रहता था। निरन्तर युद्ध की स्थिति रहने से अस्त्र-शस्त्रो के बनानेवालो तथा सिकलीगरा की पूछ भी बनी रहती थी। घोडा के सौदागर और बनजारे स्थान-स्थान पर जाकर

अच्छा लाभ कमाते थे। नटो-स्वांगो-भाडो आदि जातियो के लोगो द्वारा मनोरंजन सम्भव था। ख्याल, रम्मत, भवाई, गौरी आदि के प्रदर्शनो से भी लोग मन बहलाते थे।

श्रमिको की स्थिति अच्छी नही थी। वे क्रीतदासो के रूप में ऋणग्रस्त बन्धक परिवारो के रूप मे, थोडे से पैसों के लिए भारवाहको, खनको, लकडहारो तथा अन्य ऐसे ही श्रम-साधक कामो मे खेतो, जगलो, खानो, कमठानो आदि पर जीवन-यापन करते थे। उनकी शोचनीय स्थिति पर ध्यान देनेवाला कोई न था।

आवागमन के साधन नगण्य होने के कारण प्रत्येक आदमी दूर कही जाने की कल्पना नही कर पाता था। वह आस-पास के गाँवो मे भी आवश्यकतावश पैदल ही जा पाता था। ऊँटो और बैलगाडियो की सवारियाँ अपेक्षाकृत सरलता से मिल जाती थी। यही कारण था कि रिश्ते-नाते प्राय आस-पास के ही गाँवो तक सीमित रहते थे। इसी कारण सदेश भिजवाने मे भी परामुखापेक्षी रहना पडता था। व्यापारियो की कोठियो और राजकीय डाक-व्यवस्था का लाभ भी गिन-चुने लोग ही उठा पाते थे। तत्कालीन लोक साहित्य मे सदेशो के लिए तरसते परिजन उस स्थिति की मर्मान्तिक वेदना प्रकट करते हैं।

गाँवों-कस्बो के लोग जातिगत मुहल्लो मे बसते थे। उनकी अपनी जाति-पचायतें उनकी समस्याओं का समाधान करती थी। गाँवो के लोग प्राय जाति-समूहो मे भी बँटे रहते थे। एक ही प्रधान जाति की बहुलतावाले अनेक गाँव होते थे। दूसरी जाति के लोग उनकी छाया मे ही रह पाते थे। जागीरो के गाँवो-कस्बो में जागीरदार के परिवार का प्रभुत्व कभी-कभी आतक की सीमा तक पहुँच जाता था। जागीरदार से रुठ कर चलनेवाले परिवार के लिए वहां कोई गुजायश नही थी।

गाँवो-कस्बो मे चोरियाँ और डाके कभी-कदास ही पडते थे पर कही-कही उद्दड राजपूत अपने सहयोगियो के साथ राहजनी कर लेते थे। यदि जागीरदार या राज्याधिकारी निर्बल होते तो उन्हें दबाना कठिन होता। फिर भी कुल मिलाकर साधारण लोगो के लिए यात्रा निरापद रहती थी। सम्पन्न लोग यात्रा मे रक्षको को साथ रखते, जो काम पडने पर अपना जीवन न्यौछावर कर देते थे। अनेक व्यापारिक लोग चारण भाटो को सुरक्षा का जिम्मा दे देते थे, क्योकि वे न केवल अवध्य समझे जाते बल्कि उन्हे सामान पर करो मे भी छूट थी। ऐसे लोग *अनेक बार इस रियायत का गलत लाभ उठाते थे।*

प्राय लोगो का चरित्र-बल बहुत ऊँचा था। जाति, समाज और गाँव के भाई-चारे के बन्धन बडे असरदार थे। पारस्परिक सहयोग अनुकरणीय था। विवाह, रोग, शोक, उत्सव, कृषि, चोरी, धाडा आदि सभी अवसरो पर वे एकजुट होकर एक आदर्श उपस्थित करते थे। गाँव की बहू-बेटियो का सम्मान और सुरक्षा मानी

हुई बात थी। लोग निस्संकोच गाँव के किसी भी व्यक्ति के साथ बहू-बेटी को दूसरे गाँव पहुँचा देते थे। इस प्रकार की कल्पना भी करना आज की शताब्दी मे दुष्कर लगता है। यही चरित्र बल पराई सम्पत्ति के सम्बन्ध मे भी देखा जा सकता था।

क्षत्रिय परिवारो की स्थिति नितांत भिन्न थी। बहुत कम साधारण श्रेणी के राजपूत कृषि कार्य करना पसन्द करते थे। शेष उस धन्धे को नीची दृष्टि से ही देखते थे। घोडा और तलवार ही उनकी आजीविका के मुख्य साधन थे, जिन्हे वे सम्मानजनक समझते थे। दहेज के कारण आर्थिक स्थिति से डरकर वे कन्या का वध भी करते थे। सती प्रथा से साधारण राजपूतो के परिवार छिन्न-भिन्न हो जाते थे और सती न होने पर परिवारो मे विधवाओ को कारुणिक जीवन बिताना पडता था। फिर भी सघर्षों से जूझते हुए उन्होने अपना अस्तित्व बनाए रखा था। पारम्परिक अफीम-सेवन का रिवाज तो था ही पर यवन सभ्यता के प्रभाव से मदिरा का प्रचलन भी अधिक हो चला था। इसी सभ्यता के प्रभाव से बहुपत्नीत्व की प्रथा को भी बढावा मिल रहा था, यद्यपि यह उच्च वर्ग के क्षत्रियो मे ही अधिक थी। इसका एक कारण यह भी था कि राजपरिवार अपनी लडकियाँ समान स्तर के अथवा उच्चस्थ राजपरिवारो मे ही देना पसन्द करते थे। इस कारण बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह भी करने पडते थे। बहुपत्नीत्व के कारण विवाहिताओ के दुखी जीवन के अतिरिक्त परिवारो मे आतरिक कलह भी बढते जाते थे। राजा-गण त्याग मे एक-दूसरे से बढ-चढने की होड मे खूत मे बाहर जाकर चारणो-भाटो तथा अन्य याचको को द्रव्य देते थे, जिनसे ऋण लेने तक की नौबत आ जाती थी।

समूची क्षत्रिय जाति एक झूठे दम्भ और सामाजिक वरीयता के अहकार मे जी रही थी। पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, मान-सम्मान, ऊँच-नीच, कुलगत वैमनस्य और प्रतिशोध के उनके जातीय गुणावगुण उनकी सगठित शक्ति मे बाधक बने हुए थे। भूमि पर अधिकार की लालसा उनकी मुख्य कमजोरी थी। इसी स्वार्थ मे अन्धे होकर वे अपनी बेटियो को विधवा भी बनाने लगे थे। पिता पुत्रो-भाइयो की हत्या करने और कुटिल नीति मे निम्नतम स्तर पर भी उतरने मे वे नही हिचकिचाते थे। मुगलो का सरक्षण पाकर अनेक राज-परिवारो ने अपने प्रतिशोध की ज्वाला को शान्त करने के प्रयास किए थे।

स्त्रियो की कोई सामाजिक स्थिति नही थी। उनका घर ही उनका ससार था। उनमे शिक्षा का नितान्त अभाव था और पारिवारिक सस्कारो के अच्छे-बुरे असर से वे सुख-दु ख का जीवन बिता लेती थी। परदे का रिवाज व्यापक था। क्षत्रियो म तो यह कष्ट की सीमा तक पहुँच गया था। घरो का सारा धन्धा उन्ही के जिम्मे था। छोटी जातियो मे तो वे खेती का काम भी करती और पशुधन की देखभाल भी। पुरुष केवल विशेष श्रम-प्रधान कार्य ही करते अथवा बाहर आने-जाने का।

अन्यथा वे बेकार बैठे तम्बाकू पीते या निठल्ली बातें करते। पति अथवा बेटो के पास म न रहने पर स्त्रियो का सम्मिलित परिवारा मे निर्वाह भी दुखद होता था। वैसे स्त्री मात्र का जीवन प्राय पराधीन अवस्था मे ही व्यतीत होता था। सामाजिक असुरक्षा, व्यावसायिक शिक्षा का अभाव और पारम्परिक न्यायमर्यादा ने उन्ह सदैव ही पुरुष की वशवर्तिनी ही बनाए रखा। उनके दु ख-दर्द को प्रकट करने का कोई प्रयत्न साहित्यकारो ने भी नही किया। वे सदैव उनके देहगत आकर्षण को ही मन-बहलाव का विषय मानते रहे। यौवन, शृगार, विरह, मिलन, तृष्णा, रूठना मनाना, करुणा, वात्सल्य आदि वर्णनो मे उलझी हुई उनकी नारी इसी एकागी भाव मे चित्रित होती रही। यही बात चित्रकारो और मूर्तिकारो पर भी लागू होती है।

यद्यपि मुस्लिम धर्म के माननेवाले, या यो कहे, अधिकाशत बलात् धर्म परिवर्तन के कारण बने मुसलमान, क्रमश बढते जा रहे थे, पर बहुसख्यक समाज हिन्दुओ का ही था। इस विशाल समाज मे अनेक सम्प्रदाय और मत-मतान्तर सदैव से ही रहते आये हैं। प्राचीन सम्प्रदाय भी धीरे-धीरे या तो नवीन कायाकल्प करते अथवा दूसरे नये विचारो के सम्प्रदायो के सामने विलीन हो जाते।

प्रिथीराज का युग एक ओर तो शाक्त और शैव सम्प्रदाया के क्रमिक अध-पतन का और दूसरी ओर वैष्णव सम्प्रदाय की रामभक्ति और कृष्णभक्ति शाखाओ के अभ्युदय का सक्रमण-काल था। रामानन्द और निम्बार्काचार्य के शिष्य सगुणोपासना का यह नया सन्देश लेकर राजपूत राज्या मे भी प्रवेश कर चुके थे। अन्त पुरो मे इन सम्प्रदायो का, विशेषत निम्बार्को का, प्रभुत्व बढता जा रहा था। वल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय से भी इस मत को समर्थन मिला। फलत मीराँ जैसी भक्त न जन्म लिया और कृष्ण-भक्ति की लहर समूचे राजस्थान मे व्याप्त हो गई। यद्यपि क्षत्रिय कुल अपने परम्परागत इष्ट-देवो और कुलदेवियो का सम्मान बनाए हुए थे, पर जन-सामान्य मे राधा-कृष्ण की मधुरा भक्ति का आकर्षण प्रबल हो रहा था। वृन्दावन तथा मथुरा के पुण्य धामो की सन्निकटता और गोप-गोपिया की रासलीला के सुखद प्रसग इस भक्ति के प्रचार-प्रसार मे सहायक हुए। कृष्ण-लीला के नाना प्रसगो ने श्रीमद्भागवत का व्यापक प्रचार किया। भागवत के सप्ताहो का आयोजन एक यज्ञ का-सा रूप लेने लगा। द्वारकाधाम की यात्राओ का सिलसिला चलने लगा। वृन्दावन, मथुरा आदि स्थाना से मूर्तियाँ लाई जाकर प्रतिष्ठित की जाने लगी। रानियो की प्रेरणा से विविध नामो से राधाकृष्ण के मन्दिर बनने लगे। नरसी कृत 'मायरो', पदम भगत कृत 'विवाहलो आदि अनकानेक लोक रचनाएँ बनने लगी, जिनमे मुख्यत महिला समाज की भक्ति-भावना मे वृद्धि हुई। साहित्य म भी कृष्ण रुक्मिणी का विवाह-प्रसग, नागलीला, कस-वध, सुदामा-प्रसग, गीता प्रवचन आदि विषयो पर रचनाएँ

हुई बात थी। लोग निस्संकोच गाँव के किसी भी व्यक्ति के साथ बहू बेटी को दूसरे गाँव पहुँचा देते थे। इस प्रकार की कल्पना भी करना आज की शताब्दी में दुष्कर लगता है। यही चरित्र बल पराई सम्पत्ति के सम्बन्ध में भी देखा जा सकता था।

क्षत्रिय परिवारों की स्थिति नितांत भिन्न थी। बहुत कम साधारण श्रेणी के राजपूत कृषि-कार्य करना पसन्द करते थे। शेष उस धन्धे को नीची दृष्टि से ही देखते थे। घोड़ा और तलवार ही उनकी आजीविका के मुख्य साधन थे, जिन्हें वे सम्मानजनक समझते थे। दहेज के कारण आर्थिक स्थिति से डरकर वे कन्या का वध भी करते थे। सती प्रथा से साधारण राजपूतों के परिवार छिन्न भिन्न हो जाते थे और सती न होने पर परिवारों में विधवाओं को कारुणिक जीवन बिताना पड़ता था। फिर भी संघर्षों से जूझते हुए उन्होंने अपना अस्तित्व बनाए रखा था। पारम्परिक अफीम-सेवन का रिवाज तो था ही पर यवन सभ्यता के प्रभाव से मदिरा का प्रचलन भी अधिक हो चला था। इसी सभ्यता के प्रभाव से बहुपत्नीत्व की प्रथा को भी बढ़ावा मिल रहा था, यद्यपि यह उच्च वर्ग के क्षत्रियों में ही अधिक थी। इसका एक कारण यह भी था कि राजपरिवार अपनी लड़कियाँ समान स्तर के अथवा उच्चस्थ राजपरिवारों में ही देना पसन्द करते थे। इस कारण बाल विवाह और वृद्ध विवाह भी करने पड़ते थे। बहुपत्नीत्व के कारण विवाहिताओं के दुखी जीवन के अतिरिक्त परिवारों में आतरिक कलह भी बढ़ते जाते थे। राजा गण त्याग में एक दूसरे से बढ़ चढ़ने की होड़ में यूँते में बाहर जाकर चारणों भाटों तथा अन्य याचकों को द्रव्य देते थे, जिनसे ऋण लेने तक की नौबत आ जाती थी।

समूची क्षत्रिय जाति एक झूठे दम्भ और सामाजिक वरीयता के अहंकार में जी रही थी। पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, मान-सम्मान, ऊँच-नीच, कुलगत वैमनस्य और प्रतिशोध के उनके जातीय गुणावगुण उनकी संगठित शक्ति में बाधक बने हुए थे। भूमि पर अधिकार की लालसा उनकी मुख्य कमजोरी थी। इसी स्वार्थ में अन्धे होकर वे अपनी बेटियों को विधवा भी बनाने लगे थे। पिता पुत्रों भाइयों की हत्या करने और कुटिल नीति में निम्नतम स्तर पर भी उतरने में वे नहीं हिचकिचाते थे। मुगलों का संरक्षण पाकर अनेक राज-परिवारों ने अपने प्रतिशोध की ज्वाला को शान्त करने के प्रयास किए थे।

स्त्रियों की कोई सामाजिक स्थिति नहीं थी। उनका घर ही उनका संसार था। उनमें शिक्षा का नितान्त अभाव था और पारिवारिक संस्कारों के अच्छे बुरे असर से वे सुख-दुःख का जीवन बिता लेती थी। परदे का रिवाज व्यापक था। क्षत्रियों में तो यह कष्ट की सीमा तक पहुँच गया था। घरों का सारा धन्धा उन्हीं के जिम्मे था। छोटी जातियों में तो वे खेती का काम भी करती और पशुधन की देखभाल भी। पुरुष केवल विशेष श्रम-प्रधान कार्य ही करते अथवा बाहर आने-जाने का।

अन्यथा व बेकार बैठे तम्बाकू पीते या निठल्ली बातें करते। पति अथवा बेटो के पास मे न रहने पर स्त्रियो का सम्मिलित परिवारा मे निर्वाह भी दुखद होता था। वैसे स्त्री मात्र का जीवन प्राय पराधीन अवस्था मे ही व्यतीत होता था। सामाजिक असुरक्षा, व्यावसायिक शिक्षा का अभाव और पारम्परिक न्यायविधि ने उन्हे सदैव ही पुरुष की वशवर्तिनी ही बनाए रखा। उनके दु ख-दर्द को प्रकट करने का कोई प्रयत्न साहित्यकारो ने भी नही किया। वे सदैव उनके देहगत आकर्षण को ही मन-बहलाव का विषय मानते रहे। यौवन, शृगार, विरह, मिलन, तृष्णा, रूठना-मनाना, करुणा, वात्सल्य आदि वर्णनो मे उलझी हुई उनकी नारी इसी एकागी भाव मे चित्रित होती रही। यही बात चित्रकारो और मूर्तिकारो पर भी लागू होती है।

यद्यपि मुस्लिम धर्म के माननेवाले, या यो कहें, अधिकाशत बलात् धर्म परिवर्तन के कारण बने मुसलमान, क्रमश बढते जा रहे थे, पर बहुसख्यक समाज हिन्दुओ का ही था। इस विशाल समाज मे अनेक सम्प्रदाय और मत-मतान्तर सदैव से ही रहते आये हैं। प्राचीन सम्प्रदाय भी धीरे-धीरे या तो नवीन कायाकल्प करते अथवा दूसरे नये विचारो के सम्प्रदायो के सामने विलीन हो जाते।

प्रिथीराज का युग एक ओर तो शाक्त और शैव सम्प्रदायो के क्रमिक अध.-पतन का और दूसरी ओर वैष्णव सम्प्रदाय की रामभक्ति और कृष्णभक्ति शाखाओ के अभ्युदय का सक्रमण-काल था। रामानन्द और निम्बार्काचार्य के शिष्य सगुणोपासना का यह नया सन्देश लेकर राजपूत राज्यो मे भी प्रवेश कर चुके थे। अन्त पुरो मे इन सम्प्रदायो का, विशेषत निम्बार्कों का, प्रभुत्व बढता जा रहा था। वल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय से भी इस मत को समर्थन मिला। फलत मीरां जैसी भक्त ने जन्म लिया और कृष्ण-भक्ति की लहर समूचे राजस्थान मे व्याप्त हो गई। यद्यपि क्षत्रिय कुल अपने परम्परागत इष्ट-देवो और कुलदेवियो का सम्मान बनाए हुए थे, पर जन-सामान्य मे राधा-कृष्ण की मधुरा भक्ति का आकर्षण प्रबल हो रहा था। वृन्दावन तथा मथुरा के पुण्य धामो की सन्निकटता और गोप-गोपियो की रासलीला के सुखद प्रसग इस भक्ति के प्रचार-प्रसार मे सहायक हुए। कृष्ण-लीला के नाना प्रसगो ने श्रीमद्भागवत का व्यापक प्रचार किया। भागवत के सप्ताहो का आयोजन एक यज्ञ का-सा रूप लेने लगा। द्वारकाधाम की यात्राओ का सिलसिला चलने लगा। वृन्दावन, मथुरा आदि स्थानो से मूर्तियाँ लाई जाकर प्रतिष्ठित की जाने लगी। रानियो की प्रेरणा से विविध नामो से राधाकृष्ण के मन्दिर बनने लगे। नरसी कृत 'मायरो', पदम भगत कृत 'विवाहलो' आदि अनेकानेक लोक रचनाएँ बनने लगी, जिनमे मुख्यत महिला समाज की भक्ति-भावना मे वृद्धि हुई। साहित्य मे भी कृष्ण-रुक्मिणी का विवाह-प्रसग, नागलीला, कस-वध, सुदामा-प्रसग, गीता-प्रवचन आदि विषयो पर रचनाएँ

होने लगी। भागवत के दशम स्कध के भाषानुवाद भी हुए।

इस धारा से हट कर कुछ क्रान्तिकारी सम्प्रदाय भी खडे हो रहे थे, जिन्हे ग्रामीण समाज का बल प्राप्त था। इनमे शैवो की निर्गुण भक्ति और वैष्णवो की सगुण भक्ति का समन्वय-सा था। इनकी अपनी विशेषता इनके नियमो की व्यावहारिकता और जीवन मे उनकी उपादेयता थी। इस दृष्टि से इन मतो के मानने-वालो के भौतिक एव चारित्रिक उत्थान मे बडी सहायता मिली। बीकानेर क्षेत्र के ये दो मत विष्णोई तथा जसनाथी सम्प्रदायो के नाम से ज्ञात हैं। विष्णोई सम्प्रदाय का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है। जसनाथी सम्प्रदाय की जडें अभी शैव मत की प्राचीन भूमि को पूर्णत छोड नही पाई।

फिर भी इन दोनो ने मरुस्थलीय क्षेत्र के जनमानस को उद्वेलित कर उसमे नये स्फुरण का बीजारोपण किया था। तत्कालीन साहित्य मे भी उनका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा था। परम्परागत कथानको के माध्यम से इन्होने अपनी नवीन मान्यताओ को प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया, जो बडा सफल सिद्ध हुआ।

इसी समय एक और महत्त्वपूर्ण निर्गुणी सम्प्रदाय का उदय हुआ, जो दादू पथ के नाम स जाना गया। दादू के मुख्य स्थान ढूँढाड मे आमेर तथा नराणा थे। इनके शिष्यो के '५२ थाभे' प्रसिद्ध हुए। राजस्थान के अनेक राज्यो मे दादू के शिष्यो ने दादूद्वारे स्थापित किए और दादूवाणी का प्रचार किया। इस पथ के उपदेशो ने भी बडे पैमाने पर जनसाधारण को प्रभावित किया। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक छोटे बडे सम्प्रदाय भी अपनी-अपनी विचारधारा लेकर प्रकट हो रहे थे। पर कृष्ण-भक्ति के प्रबल प्रवाह के सामने उनका टिकाव छोटे छोटे एकान्तिक समुदायो मे ही सम्भव हुआ।

जीवन-वृत्त

वंश-परम्परा

बीकानेर राजवंश के संस्थापक राव बीका से चौथी पीढ़ी में (बीका लूणकर्ण जैतसी कल्याणमल) अकबर के समकालीन राव कल्याणमल हुए। कल्याणमल के ग्यारह पुत्र थे, जिनमें से चार—रायसिंह, रामसिंह, प्रिथीराज तथा सुरताण—उनकी सोनगरा वंश की रानी से उत्पन्न हुए थे। यह रानी अखैराज सोनगरा की पुत्री भक्तिमती थी। गो० ही० ओझा ने 'कर्मचन्द्र वंशोत्कीर्तनक काव्यम्' नामक संस्कृत ग्रंथ के उल्लेख से बताया है कि इस रानी का नाम रत्नावती था। शेष पुत्र (भाण, अमरा, गोपालदास, राघवदास, डूँगरसी, भाखरसी, भगवानदास) अन्य रानियों से उत्पन्न हुए थे। पुत्रों की सही संख्या के विषय में पृथक्-पृथक् धारणाएँ है। प्रिथीराज का जन्म मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा, संवत् १६०६ को हुआ था। प्रिथीराज के दो पुत्र—सुदर्शन (सुन्दरसिंह) और गोकुलदास—हुए। इनकी जागीर भूतपूर्व बीकानेर राज्य के गाँव ददरेवा (जिला चूरू) में थी। इनके वंशज 'प्रिथीराज बीका' कहलाते है। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने 'बीकानेर राज्य का इतिहास' में इनका वंश-वृक्ष इस प्रकार दिया है—प्रिथीराज, सुन्दरसेन (सुन्दरसिंह), केसरीसिंह, विजयसिंह, छत्रसिंह, जीतसिंह, मुलकसिंह, कुशलसिंह, सूणकर्ण, सूरजमल, हरिसिंह, गणपतसिंह, तथा मेघसिंह। संवत् १७३२ के एक उल्लेख में सुदर्शन के तीन पुत्र केसरीसिंह, सत्रसाल तथा मानसिंह, और केसरीसिंह के फतहसिंह व हरनाथ बतलाए गए हैं। गोकलदास के पुत्र जगतसिंह, माधोसिंह और नाहरखान (जो बादशाही फौज से लड़े) लिखे गये है।

वैवाहिक जीवन

जनश्रुतियो के अनुसार प्रिथीराज के तीन विवाह हुए थे। इनकी पहली पत्नी जैसलमेर के रावल हरराज की पुत्री 'लालांदे' बताई जाती है। हरराज की एक पुत्री 'गगा' प्रिथीराज के बडे भाई महाराजा रायसिंह को ब्याही थी तथा

एक अन्य पुत्री सम्राट अकबर को सौंपी गई थी। रावल हरराज अपने साहित्य-प्रेम के लिए विख्यात थे। इनके विद्यागुरु तत्कालीन सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् वाचक कुशललाभ थे। 'पिंगलशिरोमणि' नामक ग्रंथ रावल हरराज की रचना समझ कर प्रकाशित किया गया है। हरराज की एक पुत्री लालांदे कुलशील सम्पन्न, मधुर स्वभाव की तथा सुन्दरी थी। शाही सेवा में लम्बे प्रवास के कारण वचनबद्ध होकर भी जब प्रिथीराज निर्धारित तिथि को नहीं लौट पाए तो लालांदे ने निम्न दूहा कहा था—

पति परतिग्या साँमळो, अवध उलंघन थाय।
प्राण तजूं तो विरह में, कदे न राखूं काय॥

(हे पति, अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण करो, अवधि बीती जा रही है। अब मैं आपके विरह में प्राण-त्याग कर रही हूँ यह काया और नहीं रखूँगी।)

प्रिथीराज जब लौटे तो पत्नी के देहान्त की दुखद घटना से अत्यन्त शोक-ग्रस्त हो गए। श्मशान में चितादाह के अवसर पर उन्होंने निम्नलिखित मार्मिक छन्द कहे—

कथा ऊभौ कामणी, साईं यूं मत मार।
रावण सीता ले गयो, वै दिन आज समार॥

(हे प्रभु, पति के रहते पत्नी को मत मार। रावण जब सीता को ले गया था, तब मुझ पर क्या बीती थी, उस दुख का स्मरण कर।)

लालां लालां हूं कहूं, लालां साद न देय।
मो आँधा री लाकडी, मीरां खोंच म लेय॥

(मैं लालां का नाम ले-लेकर पुकार रहा हूँ, पर लालां कोई उत्तर नहीं देती। हे परमात्मा, मुझ अन्धे की लकडी मत छीन।)

तो राँध्यो नँह खावस्यां, रे वासद निसड्ड।
मो देखत तै बाळिया, लालां हंदा हड्ड॥

(हे मूर्ख अग्नि, तूने मेरे देखते देखते लालां की हड्डियाँ जला डाली, मैं आज से तुम्हारे द्वारा पकाई हुई कोई वस्तु नहीं खाऊँगा।)

कहा जाता है कि प्रिथीराज की इस शोकग्रस्त अवस्था को मिटाने के लिए रावल हरराज की ही एक अन्य कन्या 'चंपादे' से प्रिथीराज का विवाह किया गया। महता अजीतसिंह द्वारा संकलित 'जैसलमेर री ख्यात' में हरराज की कन्या 'चंपाकुंवर' का विवाह प्रिथीराज से होने का उल्लेख मिलता है। चंपादे रूप-लावण्य में तो लालांदे के समान थी ही, कविहृदया भी थी। इस पत्नी के साथ के प्रिथीराज के अनेक काव्यात्मक प्रसंग प्रचलित हैं। कहा जाता है कि प्रथम मिलन के अवसर पर प्रिथीराज ने चम्पादे को देखकर निम्नलिखित छन्द कहे थे—

आई है चम्पा अठै, वा लालों अब नाँह।
चम्पा डगला च्यार, मामा ह्वै दीजे सजळ।
हींडळतें गळ हार, हँसतमुखा हरराय री॥

(अब लालों नहीं रह गई है, चम्पा यहाँ आई है। हे हरराज की पुत्री चम्पा, गले में हार पहने हुए, मुस्कुराते मुख से तनिक सामने होकर चार डग प्रेमपूर्वक मेरी ओर भरो।)

इस पर चम्पादे ने काव्य-सौष्ठव से भरपूर निम्नलिखित दूहा कहा—

मुकुल परीमल परिहरै, जब आए रितुराज।
अलि नहिं आलो ह्वन की, कलि विकसे किहि काज॥

(वसन्त के आगमन पर मुकुलों के परिमल का परित्याग कर भ्रमर कहीं और चले जायें तो कलिका किसके लिए विकसित हो?)

प्रिथीराज ने इस पर यह दूहा कहा—

चम्पा, थूँ हरराज री, हँसकर बदन दिखाय।
मो मन पात कुपात ज्यूँ, कबहूँ त्रिपत न थाय॥

(हे हरराज की पुत्री, चम्पा, तुम हँसकर अपना मुँह दिखाओ। मेरा मन तो कुपात्र याचक की तरह है, जो कभी तृप्त नहीं होता।)

एक और मनोरंजक प्रसंग के अनुसार एक बार जब प्रिथीराज दर्पण के सामने खड़े कोई सफेद बाल उखाड़ रहे थे, तो उनकी पत्नी चम्पादे यह देखकर पीछे खड़ी मुस्कराने लगी। प्रिथीराज ने इस पर यह दूहा कहा—

पीथल धोळा आवियां, बहुली लग्गी खोड।
कामण मतगयन्द ज्यूँ, ऊभी मुक्ख मरोड॥

(हे पीथल, सफेद बाल आ गए हैं, बहुत दोष लग गया है। कामिनी मत्त हाथी की तरह खड़ी मुँह मरोड़ रही है।)

इस पर चम्पादे ने सान्त्वना बँधाते हुए निम्नलिखित दूहा कहा—

हळ तो धूना धोरियाँ, पथज गग्घां पाव।
नराँ, तुराँ अर वनफळाँ पक्का-पक्का साव॥

(हल चलाने में समर्थ तो सधे हुए बैल ही होते हैं और मार्ग भी वयस्क ऊँट ही तय करते हैं, उसी प्रकार नरों, घोड़ों और वनफलों में भी पकने पर ही रस उत्पन्न होता है।)

इस दूहे को प्रकारान्तर से इस प्रकार भी कहा जाता है—

प्यारी कह, पीथल सुणो, धोळा दिस मत जोय।
नराँ नाहराँ डिगमरा, पाक्याँ ही रस होय॥

(प्यारी कहती है, हे पीथल, सुनो, सफेद बालों की ओर ही मत देखो। पुरुष, नाहर और दिगम्बर साधु परिपक्वावस्था प्राप्त होने पर ही काम के होते हैं।)

लालांदे की तरह चम्पादे को भी अतिशय विरह-वेदना सहनी पड़ी थी, क्योंकि मेवाड़ प्रवास में रहने से प्रिथीराज को घर आने में पर्याप्त समय लग जाता था। ऐसे ही एक दीर्घ प्रवास से लौटने पर चम्पादे ने ये दूहे कहे थे—

बहुदीहां हूँ वल्लहो, आयो मन्दिर अज्ज।
कँवळ देख कुम्हळाइयो, कहो स केहद कज्ज॥
चुगे चुगाए चच भरि, गए निलज्जे कग्ग।
काया सर दरियाव दिल, आइज बैठे बग्ग॥

(बहुत दिनों से आज प्रिय महल में आया है। कहो, किस कारण मेरा मुख-कमल देखकर आपका मुख कुम्हला गया है। वह स्वयं ही उत्तर देती हुई कहती है कि निर्लज्ज कौए मेरे शरीर का मांस ले-लेकर चले गए हैं, अब तो काया-रूपी नदी तथा दिल-रूपी समुद्र के किनारे बगुले आ बैठे हैं।)

इस पर प्रिथीराज ने निम्न दूहा कहा—

जँह परमल तँह तुच्छ दळ, जँह दळ तँह नँह गंध।
चम्पा केरा तीन गुण, सदळ सरूप सुगंध॥

(जहाँ परिमल होती है वहाँ दल बहुत तुच्छ होते हैं, और जहाँ दल होते हैं वहाँ गंध नहीं होती। किन्तु चम्पा, चम्पादे में तीनों ही गुण एकत्र हैं—मारल्य, सौंदर्य और सौरभ।)

और साथ ही यह भी जोड़ दिया—

चम्पा, चमकनीह, दांत कहूँक दामणी।
अहरो नइ आभा, होड पडी हरराजउत॥

(हे चम्पा, यह तुम्हारे दांतों की चमक है या दामिनी ही चमक रही है। हे हरराज की पुत्री, तुम्हारे अधरों ने भी—रसपूरित होने में—सजल मेघों से होड लगा रखी है।)

इस प्रसंग के दो और दूहे मिलते हैं, जिनमें प्रिथीराज ने चम्पादे की विरहावस्थाजन्य दौर्बल्यगत निराशा को भंग करते हुए कहा है—

काया थिहुर म पय धन, मुंध म करि अणुराव।
पानां, पुरखां, वनफळां, इहूँ त्रिहुँ पक्कां साव॥
अवर सहू धवळो भलो, निखरो पळो नरांह।
तिण थी कामण यूँ डरे, (जुँ) दीठे कग्ग सरांह॥

(काया-रूपी धन स्थिर नहीं रहता, हे मुग्धे, उपेक्षा न कर। पत्ते, पुरुष और वन के फल, ये तीनों पकने पर ही रस देते हैं। और तो सब जगह ही 'धवल' उत्तम होता है पर पुरुषों के धवल केश ठीक नहीं लगते। उनसे कामिनी ऐसे डरती है, जैसे कौआ तीर को देख कर डरता है।)

चम्पादे से सम्बन्धित एक और प्रसंग महाराणा प्रताप तथा प्रिथीराज

विषयक है। कहते हैं कि जब चम्पादे को पता लगा कि प्रिथीराज ने प्रताप का पक्ष लेकर अकबर को अप्रसन्न कर दिया है, तो उसने यह दूहा लिख भेजा—

पति जिद की पतिसाह सूँ, यहै सुणी म्है आज।
कहँ पातल, अक्बर कहाँ, करियो वडो अकाज॥

(हे पति, मैंने सुना है कि आपने बादशाह से जिद ठान ली है। कहाँ प्रताप और कहाँ अकबर, दोनो मे कोई समानता ही नही है, आपने यह बडा अकार्य किया है।)

इस पर प्रिथीराज ने व्रजभाषा में निम्न छन्द रच कर भेजा—

जबतें सुने हैं बैन, तबतें न मोकों चैन,
पाती पढ नेक सो न, विलब लगावैंगो।
लैंके जमदूत से, समत्थ राजपूत आज,
आगरे मे आठो याम, ऊधम मचावैंगो॥
कहै प्रिथिराज प्रिया, नेकु उर धीर धरो,
चिरजीवी राना सो मलेच्छन भगावैंगो॥
मन को मरद्द मानी प्रबल प्रतापसिंह,
बब्बर ज्यो तड्प अकब्बर पै आवैंगो॥

एक और जनश्रुति के अनुसार प्रिथीराज का एक विवाह महाराणा उदयसिंह की पुत्री से भी हुआ था। कुछ विद्वान् उसे महाराणा की पुत्री न मानकर उनके पुत्र शक्तिसिंह की पुत्री बताते हैं। इसका नाम 'किरणदे' अथवा 'किरणवती' बताया जाता है। मेवाड के इतिहासकार तो इस विषय मे मौन हैं पर प्रिथीराज के भाई महाराजा रायसिंह का विवाह उदयसिंह की पुत्री 'जसमादे' के साथ चित्तौड मे सम्पन्न हुआ था। प्रिथीराज के ही एक और बडे भाई रामसिंह का विवाह भी राणा की पुत्री 'आंबा' के साथ हुआ था। इन दोनो पुष्ट प्रमाणो के आधार पर यह माना जा सकता है कि प्रिथीराज का विवाह भी वहीं हुआ हो। तत्कालीन सम्पन्न राजपूत कुलो मे एकाधिक विवाह की प्रथा रहने से यह सम्भव भी माना जा सकता है। किरणवती के जिस प्रसग को लेकर प्राचीन तथा अर्वाचीन कवियो ने अनेक रचनाएँ की हैं, वह अकबर के चरित्र से सम्बन्धित है। कर्नल टॉड ने भी अपने इतिहास-ग्रथ मे इसका वर्णन किया है।

एक बार अकबर ने नवरोज के जश्न मे लगे मीना बाजार मे प्रिथीराज की पत्नी 'किरणदे' को देखा तो वह उसके रूप-लावण्य पर आसक्त हो गया। उसने उसके शीलभग की चेष्टा की तो वह क्षत्राणी कटार निकालकर उसकी छाती पर चढ बैठी, जिससे उसे क्षमा-याचना करनी पडी। ऐसा भी कहा जाता है कि इस घटना की जानकारी प्रिथीराज को भी मिल गई थी और उन्होंने

राजबाई नामक चारणी देवी का स्मरण किया था। उस देवी ने सिंह का रूप धारण कर उस अवसर पर अकबर को भयभीत किया था। राजबाई से प्रिथीराज के मिलने की घटना एल० पी० तस्सितोरि ने इस प्रकार बताई है—

"एक बार अकबर ने अच्छी नस्ल के घोडे खरीदने के लिए प्रिथीराज को गुजरात भेजा। घोडे खरीदकर वापस आते समय वे एक ऐसे गाँव म रुके, जहाँ घोडों को पिलाने के लिए दूध नही मिल पाया। पर घोडा के सौदागर को दिए हुए वचन के अनुसार घोडो को आगरा पहुँचने तक दूध पिलाकर ही रखना था। इस असमजस के समय राजबाई नामक एक चारणी कन्या उन्हे मिली, जिसने अपनी एक गाय को दुहकर ही इतना दूध निकाल दिया जो सभी घोडो के पीने के लिए रास्ते भर तक पर्याप्त था। इस चमत्कार को देखकर प्रिथीराज उसके पाँवो पर गिर पडे और उससे सकट के समय मदद करने का वचन लिया। कहते है कि जब प्रिथीराज आगरा के निकट जा रहे थे तो मार्ग मे उनकी पत्नी किरणदे मिल गई। उसे अकबर ने विशेष पत्र भेजकर बुलवाया था। वह उसके रूप-लावण्य की प्रशसा सुन चुका था। और उसका इरादा नेक नही था। प्रिथीराज ने उस अवसर पर राजबाई को स्मरण किया और उस देवी ने सिंहनी का रूप धारण कर अकबर को भयत्रस्त किया। कहते है कि तभी से नवरोज के जश्न म राजपूत सरदारो की स्त्रियो को नही बुलाने का निश्चय किया गया।"

जैसलमेर की ख्यात मे लिखा है कि रावल भीम भाटी ने यह कुप्रथा तुडवाई। इस प्रसग का एक दूहा प्रिथीराज ने भी भीम के लिए कहा था, जो इस प्रकार है—

भीम न भेटी भाटियाँ, नवरोजे नारीह।
दूजा राजा सोभला, कर मेलै दारीह॥

इस घटना को अनेक लोगो ने अनेक ढग से लिखा है। ख्यात लेखक दयालदास की मान्यता है कि प्रिथीराज द्वारिका की यात्रा से लौटते समय 'चिडारवा' नामक गाँव म रुके थे और वही उन्होने राजबाई के दर्शन किए थे। उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर राजबाई ने सहायता का वचन दिया था। दयालदास ने वह गीत भी दिया है जिसे रचकर प्रिथीराज ने राजबाई को आहूत किया था। उसकी प्रारम्भिक कुछ पक्तियाँ इस प्रकार है—

आई, आवज ज्यूँ ब्रन वाहर आवाजै, देवो साद सुमरियाँ दीजै।
वळ तज कवण पुकारूँ बीजै, काछराय मो ऊपर कीजै॥

(हे आई—करणी—जिस प्रकार तू याद करनेवाले चारणो की पुकार पर सहायता के लिए आती रही है, वैसे ही मेरी पुकार पर भी आ। तुम्हे छोडकर मैं दूसर किसको पुकारूँ ? हे देवी, मेरी सहायता कर।)

इस प्रकार की करुण पुकार पर देवी ने प्रिथीराज की सहायता की थी,

जिसकी साक्षी की दो पंक्तियाँ प्रिथीराज की कही हुई यों बताई जाती है—

वेथ बयानो आगरा, चिडारवो स वेथ।
राव मुणता राजई, तैं अणवो (?) तेथ॥

(कहाँ तो बयाना और आगरा तथा कहाँ चिडारवो गाँव ! किन्तु पुकार सुनते ही राजबाई देवी तुरन्त उपस्थित हुई।)

प्रिथीराज की दो पुत्रियों की जानकारी अद्यावधि ज्ञात हुई है। मुंशी मोहनलाल कायस्थ तथा कुँवर कन्हैयाजूदेव के इतिहासों के अनुसार, इनकी एक पुत्री का विवाह सिरोही के राव सुरताण देवडा के साथ हुआ था। ख्यात के अनुसार यह घटना इस प्रकार घटित हुई। बीकानेर राजवंश की बाई 'पुहपावती' का विवाह सिरोही में हुआ था। देवडों ने इस बाई को मार डाला था, जिससे दोनों कुलों में वैमनस्य हो गया। अकबर ने रायसिंह को सिरोही पर आक्रमण करने के लिए भेजा, तब रायसिंह सुरताण को पकडकर अकबर के पास ले आने में समर्थ हुए। कहा जाता है, इसी प्रसंग में सुरताण को बीकानेर में नजरबन्द रखा गया। 'दूदा' नामक चारण ने रायसिंह की सिरोही-विजय पर काव्य रचकर सुनाया तो उन्होंने प्रसन्न होकर दूदा के माँगने पर सुरताण को मुक्त ही नहीं कर दिया बल्कि उसका विवाह भी अपने भाई प्रिथीराज की पुत्री से कर दिया। इस पुत्री का नाम ख्यातकार ने नहीं दिया है।

प्रिथीराज की एक और पुत्री का नाम रुक्मावती था, जिसका विवाह कछवाहा नारायणदास खगारोत के साथ हुआ था। नारायणदास जयपुर जिले के 'नराणा' नामक प्राचीन ऐतिहासिक स्थान के स्वामी थे, जो उनके पिता खगार को अकबर ने प्रदान किया था। रुक्मावती संवत् १६४२ में नारायणदास की मृत्यु पर सती हुई थी और उसकी छत्री 'नराणा' में बताई जाती है।

बीकानेर-वास

प्रिथीराज के जीवन से सम्बन्धित बहुत कम घटनाएँ ही प्रामाणिक रूप से ज्ञात हैं। 'दलपतविलास' नामक एक समकालीन राजस्थानी 'ख्यात' में उनके बीकानेर-वास के समय की कुछ जानकारी निम्न प्रकार दी है

"सुरताण, प्रिथीराज जी आदि सभी ठाकुर कल्याणपुर में एकत्रित हुए। वहाँ वे पाँच दिन रहे। उन्होंने चौगान का खेल खेला।"...."रामसिंह जी और प्रिथीराजजी ने 'बीजा' (देवडा) के यहाँ भोजन किया। तब राजाजी (रायसिंहजी) ने बुरा माना।" ..."(राठौड 'अमरा' के साथ महाराजकुमार 'दलपत' की मुठभेड हुई, जिसमें) प्रिथीराजजी के दो राजपूत काम आये।"...."सिरोही से राजाजी (रायसिंहजी) से रूठकर सुरताण तथा प्रिथीराज घर आये। राणाजी की लडकी, रामसिंहजी की बहू 'आँबा' के मरने पर रामसिंहजी को वैराग्य हो आया। जिससे

दाढ़ी सँवारना भी बन्द कर दिया। तब सुरताण और प्रिथीराज शोक प्रकट करने गए। उस समय उन्होंने कहा कि हमें भी गाड़ियां जुताकर साथ ले जाओ, क्योंकि कुँवर (दलपतसिंह) निकलने नहीं देते। इस पर रामसिंहजी ने कहा कि आप लोग ज्यादती करते हैं, इसलिए मैं नहीं चलता। खुद ही आ जाओ। उनके द्वारा ज्यादती नहीं करने का विश्वास दिलाये जाने पर रामसिंहजी गए और गाड़ियां जुताकर उन्हें ले आए। तब प्रिथीराज अपने घर 'बीझासर' गए।" "तब सुरताण और प्रिथीराज ने जाटों और बनियों से ऊँट-बैल तथा अन्य सवारियाँ छीनी। और भी जो कुछ मिला, सो छीन लिया। तब रामसिंहजी ने उनसे कहा कि तुम लोग धरती में उजाड़ करते हो तो मुझे तो जाने दो। तब सुरताण की यह ने कहा कि रामसिंहजी तो बैरागी हो गए हैं पर हम तो 'धाम' का धर्म नहीं छोड़ेंगे।" कुँवरजी ने सुरताण तथा प्रिथीराज को कहलवाया कि आप लोग गाड़ियां बाहर ले जाओ। तब गाड़ियां जुताकर 'नवहर' चले गए। "कितने ही दिनों के बाद सुरताण, प्रिथीराज, अमरा आदि ठाकुरों ने जाट, जोइया आदि का भटनेर का साथ इकट्ठा कर देश को लूटा। फिर देखा कि यदि और उजाड़ करेंगे तो अच्छा नहीं लगता। तब बादशाहजी के पास आकर पुकार की।"

इन सब घटनाओं से जो तथ्य उजागर होते हैं, उनके अनुसार ये जानकारियाँ मिलती हैं कि "प्रिथीराज उस समय 'बीझासर' नामक गाँव में रहते थे। उनका तथा उनके अन्य सहोदर रामसिंह तथा सुरताण का महाराजा रायसिंह से मन-मुटाव था। वे अपने भाइयों के साथ बीकानेर की धरती में लूट-खसोट करते थे तथा वे अपने भाइयों के साथ बादशाह की सेवा में उपस्थित हुए थे।" प्रिथीराज रामसिंहजी को अपना 'गुरु' मानते थे तथा उनसे बड़े प्रभावित थे। उनकी प्रशंसा में उन्होंने एक मरसिया कहा था। 'सुरताण' के साथ उनका सम्बन्ध पर्याप्त लम्बा रहा था। गागरोण में लिखी 'वेलि' की संवत् १६६६ की एक प्रति में 'सुरताण' का नाम मिलता है। सम्भव है, प्रिथीराज को बादशाह द्वारा 'गागरोण' दिये जाने पर सुरताण भी उनके साथ ही रहते हों। 'सुरताण' का एक शिलालेख भी 'गागरोण' में बताया जाता है। जगदीशसिंह गहलोत ने अपने इतिहास में सुरताण को गागरोण का हाकिम बनाया है। प्रिथीराज के वंशज प्रिथीराजोत बीका चूरू जिले के 'ददरेवा' नामक स्थान में रहते थे, यह उल्लेख गौ० ही० ओझा ने किया है। पर बाँकीदास ने अपनी ख्यात में 'हिसार' की 'बावनी' बादशाह द्वारा प्रिथीराज को दी जाने की बात लिखी है और वहीं 'प्रिथीराजोत बीका' परिवारों के रहने की बात लिखी है। चूरू जिला हरियाणा के हिसार जिले से संलग्न होने के कारण ये दोनों ही उल्लेख सत्य प्रतीत होते हैं।

शाही-सेवा

एक कवि के रूप में तो अकबर तथा प्रिथीराज के सम्बन्धों की अनेक जनश्रुतियाँ प्राप्त है, पर एक मनसबदार के रूप में प्रिथीराज का उल्लेख नहीं के समान ही है। 'अकबरनामा' के उल्लेख से गौ० ही० ओझा ने लिखा है कि प्रिथीराज को सवत् १६३८ (सन् १५८१ ई०) में काबुल की ओर भेजा गया था। सवत् १६५३ (सन् १५९६ ई०) में अहमदनगर की लड़ाई में भी वे सम्मिलित हुए थे। काबुल के युद्ध में वीरता प्रदर्शित करने के कारण इन्हें 'गागरोण' की जागीर प्रदान की गई थी। मुंहता नैणसी की ख्यात के अनुसार अकबर द्वारा दिये जाने पर प्रिथीराज ने खीचियों को परास्त कर 'गागरोण' पर अधिकार किया था। सवत् १६३० (१५७३ ई०) में प्रिथीराज महाराज रायसिंह के साथ गुजरात के अभियान में भी सम्मिलित हुए थे। बांकीदास ने अकबर द्वारा 'हिसार की बावनी' इन्हें दी जाने का उल्लेख किया है। स्फुट प्रसगों के अनुसार इन्हें गुजरात की ओर घोड़े खरीदने के लिए भी भेजा गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि ये अकबर के समय में कोई प्रभावशाली पद पर नहीं रहे। यदि ऐसा होता तो तत्कालीन इतिहासों में ऐसा उल्लेख अवश्य होता। जो कुछ उल्लेख मिलता है, वह नगण्य-सा ही है।

पर जनश्रुतियों के अनुसार प्रिथीराज अकबर के 'नवरत्नों' में से थे, यद्यपि ऐसा मानने का कोई आधार नहीं है। एक लोकोक्ति में यह बात इस प्रकार कही गई है—

पीथल सो मजलिस गई, तानसेन सो राग।
हँसबो रसबो खेलबो, गयो बीरबल साथ॥

अकबर से सम्बन्धित अन्य प्रसग इस प्रकार है—

अकबर को यह ज्ञात था कि प्रिथीराज ने 'वेलि' नामक काव्य लिखा है। वे उसकी प्रशसा भी करते थे। पर एक दिन सायाँ झूला कृत 'रुखमणी हरण' नामक काव्य सुनने के बाद उन्होंने प्रिथीराज को कहा कि 'माई बाबा' की 'हरणी' तुमारी 'बेल' को चर गई है।

एक दिन प्रिथीराज को उदास देखकर अकबर ने यह प्रश्न पूछा—

मन उतराधो तन दखण, कहो न कवण विचार।

इस पर प्रिथीराज ने उत्तर दिया—

मन गुणवन्ती मोहियो, तन रूँधो दरबार॥

और साथ ही, यह दूहा भी कहा—

के मेवड़ पग नाथ रा, के मेवड़ तट गन्ध।
प्रभु सेवड़ चपाकळी, सदळ, सरूप, सगध॥

(अकबर ने पूछा—तुम्हारा मन उत्तर की ओर तथा तन दक्षिण की ओर जा रहा है, कहो, क्या विचार कर रहे हो ? प्रिथीराज ने कहा—मन तो गुणवती भार्या ने मोह लिया है और तन श्रीमान ने रोक रखा है। कोई तो स्वामी की सेवा करते हैं और कोई यश के उपासक हैं, पर प्रिथीराज तो चपाकली का सेवन करता है, जो सदल, सुरूप और सुगंध है।)

अकबर ने महाराणा प्रताप से प्राप्त तथाकथित आत्मसमर्पण का पत्र प्रिथीराज को पढ़कर सुनाया तो वे बोले कि यह पत्र जाली है, महाराणा ऐसा नहीं लिख सकते। यदि आपकी आज्ञा हो तो उन्हें पत्र लिख कर पूछूँ। कहा जाता है कि प्रिथीराज ने उन्हें निम्नलिखित दूहे लिखकर भेजे थे—

'पातल' जो 'पतसाह', बोलै मुख हूँतां वयण।
मिहिर पिछम दिस मांह, ऊगै कासपरावउत।।
पटकूँ मूँछां पांण, कै पटकूँ निज तन करद।
दीजै लिख दीवांण इण दो मँहली वात इक।।

(प्रताप यदि अपने मुख से 'पातसाह' शब्द का उच्चारण करे तो सूर्य पश्चिम दिशा में उदित हो। हे दीवान, मैं अपनी मूँछो पर गर्व के साथ ताव दूँ, अथवा ग्लानि से अपनी गर्दन पर तलवार का प्रहार करूँ—इन दो बातों में से एक लिख भेजें।)

कहते हैं कि महाराणा प्रताप ने उक्त पत्र के पहुँचने पर निम्नलिखित दूहे उत्तर में लिखकर भेजे—

तुरक कहासी मुख पतै, इण तन सूं इकलग।
ऊगै ज्यांही ऊगसी, प्राची बीच पतग।।
खुसी हूँत पीथल कमध, पटको मूँछां पांण।
पछटण है जेतै पतो, कलमां सिर केवाण।।
साग मूँड सहसी सको, सम जस जहर सवाद।
भड पीथल जीतो भलां, बैण तुरक सूं वाद।।

(प्रताप के मुख से निरन्तर 'तुरक' शब्द ही निकलेगा, पातसाह नहीं। सूर्य सदा की तरह पूर्व में ही उगता रहेगा। हे पीथल राठौड, जब तक खुशी से मूँछों पर ताव दो, जब तक प्रताप कलमा पढ़नेवालों के सिर पर तलवार का प्रहार करने को मौजूद है। यशोकामना को विषवत् समझनेवाला प्रताप अपने सिर पर सांगों के प्रहार सहेगा। हे वीर पीथल, भले ही तुर्क से विवाद में विजयी बनो।)

अकबर को जब यह पत्र पढ़वाया गया तो उसे स्वभावतः बड़ी निराशा हुई।

प्रिथीराज के एक भाई अमरसिंह विद्रोही बनकर बादशाही खजाना लूटा करते थे। ये बड़े वीर थे पर अफीम का सेवन अधिक करते थे। इन्हें सोते से जगानेवाले को ये 'कटारी' के वार से मार डालते थे, इसलिए जगाने का साहस किसी में भी नहीं होता था। एक बार जब अरब खाँ नामक सेनापति ने इन पर

आक्रमण किया तो ये सोये हुए थे। उस सकट की अवस्था मे 'पद्मा' नामक चारणी ने एक 'गीत' बोलकर इन्हे जगाया था।

पद्मा प्रसिद्ध बारहठ शकर की वाग्दत्ता थी, पर शकर ने उसे त्याग दिया था। तब से यह अमरसिंह के अन्त पुर मे रहने लगी थी। भाई-बहन की तरह रहते हुए भी पद्मा अमरसिंह की मृत्यु पर सती हुई थी। इसके पाँवो मे सम्भवत कोई दोष था, इसीलिए 'बांका पग बाई पदमा रा' लोकोक्ति प्रसिद्ध है। उक्त गीत की कुछ पक्तियाँ निम्न प्रकार है—

सहर लूंटतो सदा तूं, देस करतो सरद, कहर नर पड़ी थारी कमाई।
उज्यागर झाल खग, जैतहर आभरण, अमर अकबर तणी फौज आई॥

(तू सदा शहरो को लूटता और देश-विजय करता रहा है, आज तुम्हारे उस यश पर वज्रपात हो रहा है। हे जैतसी के पौत्र, वश के आभूषण, उज्ज्वल यश वाले अमरसिंह, तलवार हाथ मे पकड, अकबर की फौज आ गई है।)

यह गीत सुनकर अमरसिंह सन्नद्ध हुआ और युद्ध म हाथी पर बैठे अरब खाँ तक अपने घोडे को पहुँचा कर कटार से उसका काम तमाम कर स्वय भी कट मरा। कर्नल टॉड ने उसकी प्रशसा म यह वर्णन करते हुए उसे 'उड़ता शेर' कहा है।

जब बादशाह के पास अरब खाँ की विजय का समाचार पहुँचा तो उसने प्रिथीराज को बडे अभिमान से कहा कि अमरसिंह पकडा गया है। इस पर प्रिथीराज ने जोर देकर कहा कि अमरसिंह कभी जिन्दा पकडा नही जा सकता, मारा अवश्य जा सकता है। तब पूरी घटना की जानकारी होने पर अकबर ने उस वीर की तारीफ की और प्रिथीराज को भी ऐसे भरोसे की दाद दी।

कहा जाता है कि एक बार अकबर ने प्रिथीराज को पूछा कि तुम्हारी मृत्यु कब होगी। तब प्रिथीराज ने मथुरा मे छठे महीने देह त्यागने की बात कही और यह भी कहा कि उस समय एक सफेद कौआ आयेगा। इस पर अकबर ने उन्हे अटक जैसे दूरस्थ प्रदेश मे भेज दिया था। प्रिथीराज अपना अन्त समय निकट आया देखकर ऊँट पर सवार होकर इतनी शीघ्रता से चले कि निर्धारित समय पर मथुरा पहुँच गए। इधर आगरा म एक भील चकवा-चकवी के जोडे को पिंजरे मे बन्द कर शहर मे बेचने लाया तो लोगो ने इस अद्भुत जोडे को दरबार मे प्रस्तुत किया। अकबर इस आश्चर्य को देखकर चकित रह गया। तब खानखाना ने यह अर्द्धाली कही—

मज्जन वारूं कोडधा, या दुर्जन की भेंट।

पर प्रयास करने पर भी खानखाना दूसरी अर्द्धाली नही रच सके। तब अकबर ने उसे पूरा करने के लिए प्रिथीराज के पास आदमी भेजा। प्रिथीराज ने उसे इस प्रकार पूरा किया—

रजनी का मेळा किया, वेहका अछर मेट॥

[करोडो सज्जनों को इस दुर्जन निर्दयी (बहेलिये) की भेंट कर दूँ, जिसने विधाता के लिखे लेख को मिटाकर (कि चकवे-चकवी का मिलन रात्रि में नही होगा) रात म भी इनका मिलन करा दिया।]

यह पादपूर्ति करने के उपरान्त मथुरा मे विश्रात घाट पर ही प्रिथीराज ने प्राण त्याग दिया और एक सफेद कौआ भी वहाँ आया। ये सब बातें अकबर के पास पहुँची तो उसे प्रिथीराज की मृत्यु का बडा दु ख हुआ और 'पीथल सा मजलिस गई' वाला दूहा उसके मुख से निकल पडा।

ये तथा अन्य ऐसी ही किवदंतियो म कोई ऐतिहासिकता नही समझनी चाहिए। ये वैसी ही कपोलकल्पित है, जैसे बीरबल-अकबर के बाजारू किस्से। पर इनसे, प्रिथीराज की जो छाप जनमानस पर पडी थी, उसका पता अवश्य लगता है।

भक्ति-भावना

प्रिथीराज एक कुलीन क्षत्रिय थे, इसलिए वीरत्व और वदान्यता तो उनके स्वाभाविक गुण थे ही, पर उनके काव्य की प्रमुख प्रेरक शक्ति उनकी भक्ति-भावना थी। एक सुप्रसिद्ध भक्त के रूप म उनकी मान्यता उस समय भी थी। करणी माता तथा लक्ष्मीनाथ उनके कुल के इष्ट देवी-देवता थे, जिनमे प्रिथीराज की भरपूर श्रद्धा-भक्ति थी। पर कृष्ण के प्रति उनका समर्पण सर्वोपरि था। उनका सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'क्रिसन रुकमणी री वेलि' तथा 'दसदेरावउत रा दूहा' नामक रचना इस तथ्य की साक्षी हैं। दसरथदेरावउत, भागीरथी गगा तथा देवी विषयक रचनाएँ भी उन्होने की थी। उनकी भक्ति-भावना स सम्बन्धित कतिपय प्रसंग निम्न प्रकार है—

नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' नामक ग्रन्थ मे इन्ह कविराज और भक्तराज बताते हुए इनके काव्य और भक्ति की प्रशसा की है—

> 'सवैया गीत श्लोक बलि, दोहा गुन नवरस।
> पिंगल काव्य प्रमान, विविध विधि गायो हरजस।
> पर दुख विदुख शलाघ्य, वचन रचना जु विचारै।
> अरथ कवित्त निरमोल, सबै सारग उर धारै।
> रुक्मिनी लता बरनन अनूप, वागीश वदन कल्याण सुव।
> नरदेव उभैभाषा निपुन, पृथ्वीराज कविराज हुव॥'

भक्तमाल की 'भक्तिरस बोधिनी' टीका करते हुए प्रियादास (सवत् १७६९) ने प्रिथीराज की भक्ति के कुछ चामत्कारिक प्रसग दिए हैं—

१. इन्होंने भक्ति मे तल्लीन होने के कारण एक बार अपनी रानी को भी नही पहचाना।

२ एक बार जब प्रिथीराज प्रवास मे थे तो मानसी पूजा करते समय इष्ट देव 'लक्ष्मीनाथ' को मदिर मे नहीं देखा। तीन दिन बाद वे पुन मदिर मे दिखाई दिए। जब इसका कारण जानने के लिए बीकानेर पत्र लिखा गया तो उत्तर आया कि मूर्ति तीन दिनो तक मदिर से बाहर ही विराजती रही।

'भक्तमाल' की ही एक और टीका **'हरिभक्ति प्रकाशिका'** मे लिखा है कि एक बार प्रिथीराज अपनी सेना के साथ किसी भयकर वन म पहुँच गए जहाँ खाद्य पदार्थ नही मिलने से सकट उत्पन्न हो गया। कहते हैं कि वहाँ उसी समय एक नगर नज़र आया, जिसमे सभी आवश्यक वस्तुएँ मिल गई और सेना को बडी प्रसन्नता हुई।

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' मे भी प्रिथीराज से सम्बन्धित कुछ प्रसग हैं। उसमे लिखा है कि 'ये राजस भक्त हैं।' लीला मे इनको नाम 'प्रभावती' है। ये श्रुतिरूपा तें प्रकटी है तातें उनके भाव रूप हैं।' 'ये बचपन से ही साधु सगति करते थे। एक बार मथुरा की यात्रा मे आए तो चौबे लोगो से पूछा कि यहाँ कोई महापुरुष हो तो बताओ जिनसे मिला जाए। तब चौबो ने विट्ठलनाथजी का नाम बताया। तब प्रिथीराज ठकुरानी घाट पर गए, जहाँ विट्ठलनाथजी के तेजस्वी व्यक्तित्व के दर्शन किए और उनसे नाम सुनकर व्रतादि कर आशीर्वाद प्राप्त किया।

दयालदास कृत **'आर्याख्यान कल्पद्रुम'** मे प्रिथीराज के तीन गुरुओ का दूहा इस प्रकार दिया है—

दीक्षा गुरु त्रिठलेश है, गुरु गदाधर व्यास।
चतराई गुरु रामसिंह, तीनूं गुरु पृथुदास॥

ऐसा प्रतीत होता है कि गदाधर व्यास से प्रिथीराज ने विद्याध्ययन किया था।

गौ० ही० ओझा ने प्रिथीराज की भक्ति की चर्चा करते हुए लिखा है कि प्रिथीराज जब 'वेलि' की रचना कर द्वारिका मे श्रीकृष्ण के चरणो मे उसे अर्पित करने जा रहे थे तो द्वारिकानाथ ने स्वय एक वैश्य के रूप मे मार्ग मे उनसे 'वेलि' का पाठ सुना था। इस प्रसग मे यह भी कहा जाता है कि 'वेलि' का पाठ करने के बाद प्रिथीराज उक्त ग्रथ को वैश्य के डेरे मे ही छोड आए थे। तब मार्ग मे आगे जाने पर याद आया तो एक आदमी को लाने भेजा। पर वहाँ न तो किसी डेरे का निशान देखा और न वैश्य को ही पाया। एक तुलसी के पौधे के नीचे 'वेलि' रखी हुई अवश्य मिली। इस पर प्रिथीराज को विश्वास हुआ कि द्वारिकानाथ ने ही वैश्य रूप मे उनसे 'वेलि' का पाठ सुना था। इस प्रसग का एक सस्कृत छन्द कवि श्रीमार द्वारा रचित इस प्रकार प्राप्त है—

पृथ्वीराजावतारेण भक्तानुग्रह काम्यया।
स्वय नारायण स्वस्य अगाद चरित हितम्।

(अर्थात स्वय नारायण न ही पृथ्वीराज रूप म अवतार लकर भक्तो पर अनुकम्पा कर स्वय अपना चरित काव्य म रचा।)

अग्रज के प्रति श्रद्धा भाव

प्रिथीराज अपने अग्रज रामसिंह के प्रति कितनी अगाध श्रद्धा रखत थे यह तथ्य उनके द्वारा कहे गए कतिपय प्रशसात्मक छदो स उद्घाटित होता है। रामसिंह बड ज्ञानी शात स्वभाव के वीर धीर नीतिज्ञ और अन्य अनेक मानवीय गुणो से युक्त थे। प्रिथीराजकृत निम्नलिखित छप्पय और दूहा इसके साक्षी हैं—

एक फरसराम सुतन जमदगन नरसर।
एक दसरथ सुत सुतो सारग धनुपधर।
इक वसुद सुत समसुतो हळ धरण महाबळ।
एत कलावत राम खडगधारी खाडणखळ।
एक एक हुवा एक एक जुग क्रत त्रता द्वापर कळि।
हुवो न हुईसै पाचमो चार राम रवि चक्क तळि॥

(जमदग्नि के पुत्र परशुराम दशरथ के पुत्र शाङ्ग पाणि राम वसुदेव पुत्रवत हलधर बलराम और कल्याणमल के पुत्र खडगधारी पर बल भजक रामसिंह—ये चारो सतयुग त्रता द्वापर तथा कलियुग म क्रमश एक एक ही हुए। जहा तक सूय का प्रकाश द्योतित है वहा तक ब्रह्माड म पाचवाँ न तो हुआ है और न होगा।)

मन सुकदेव तन कामदेव कळि अरजुण दतिक्रन बळी वखाणिम जेहा।
वाच जुगठळ तेज रवि सम राम कल्याण सुतन अे दूहड़ जेहा॥

(जो मन म शुकदेव रूप म कामदव सरसधान म अर्जुन दान म कण वाचा म युधिष्ठिर तथा तज म सूय क समान हैं वह कल्याणमल के सुपुत्र रामसिंह दूहा म इस (चेटियाळा) दूहे के समान श्रेष्ठ हैं।)

अन्य प्रसगो म भी रामसिंह के प्रति प्रिथीराज का श्रद्धा भाव प्रकट होता है। सम्भवत प्रिथीराज क जीवन म रामसिंह का आदश चरित्र एक प्रबल प्ररक शक्ति के रूप म बना रहा।

साहित्यिक सस्मरण

जब प्रिथीराज कृत वेलि का यश चारो ओर फलन लगा तो तत्कालीन चारण कवियो की अनकविध प्रतिक्रियाएँ सामने आइ। इनमे माधोदास और

गाडण केसोदास ने वेलि की प्रशसा की तथा दुरसा आढा और माला सादू ने उसको प्रिथीराज की कृति मानने मे सन्देह किया। इस पर प्रिथीराज ने माधोदास और केसोदास की प्रशसा मे तथा दुरसा और माला की निन्दा मे निम्नाकित दूहे कहे—

चूंडै चत्रभुज सेवियो, तत फळ लागो तास।
चारण जीवो चार जुग, मरो न माधोदास॥
केसो गोरखनाथ कवि, चेलो कियो चकार।
सिध रूपी रहता सवद, गाडण गुण भडार॥
धाई वारै खातिया, काई कही न जाय।
अूहै मालो अूपनो, मेहै दुरसो थाय॥

(चूंडा चारण ने चतुर्भुज विष्णु की आराधना की, जिसके फलस्वरूप उसे माधोदास नामक सुपुत्र की प्राप्ति हुई। माधोदास चारो युगो तक जीवित रह कर अमर बने! गोरखनाथ ने केसोदास को शिष्य बना लिया। उसके शब्द सिद्ध है, वह 'गाडण' गुणो का भण्डार है। ऊदा सांदू का माला और मेहा आढा का दुरसा दोनो स्वत्वहीन और दान के लिए पेट मे कटार खाने वाले है।)

गाडण रामसिंह ने इनकी प्रशसा की थी। दुरसा आढा के नाम से 'वेलि' की प्रशसा मे लिखा जो प्रसिद्ध गीत बताया जाता है, वही गीत एक प्राचीन हस्तप्रति मे गाडण रामसिंह के नाम से भी लिखा मिला है। पर श्रीसार कृत वेलि की सस्कृत टीका मे यही पद्य दुरसा आढा के नाम मे मिलता बताया। अगरचन्द नाहटा ने यह बात कहते हुए टीका का जो अश छापा है, वह उस प्रसिद्ध गीत से सम्बन्धित न होकर एक अन्य छन्द की ही टीका करता है। गाडण रामसिंह की प्रशसा करते हुए प्रिथीराज ने अन्य दो चारणो की भी प्रशसा एक दूहे मे की है, जो निम्न प्रकार है—

गुण पूरा गुरु सूगुरा, मायर सूर सुभट्ट।
रामो रतनो खेतसी, गाडण गांधी हट्ट॥

(गुणो से भरपूर, किए हुए उपकार को माननेवाले, चतुर, शूरवीर योद्धा, गाडण जाति के रामा, रतना तथा खेतसी—गाडण वश रूपी गांधी की हाट के सुगन्ध प्रसारक—यश का विस्तार करनेवाले हैं।)

'वेलि' विषयक अन्य अनेक प्रशस्तियो का उल्लेख वेलि की चर्चा के प्रसग में किया जाएगा।

महाराणा प्रताप का प्रसग

महाराणा प्रताप से हुए पत्र-व्यवहार की चर्चा हम कर चुके हैं। प्रताप की वीरता से प्रभावित होकर प्रिथीराज ने उनकी प्रशसा मे गीतो तथा दूहो की

रचना की थी। प्रिथीराज की स्वातन्त्र्य-भावना तथा वीरों की प्रशंसा की राजस्थानी परम्परा इन रचनाओं में स्पष्टतः उभर कर सामने आई है।

बहुविध ज्ञान

प्रिथीराज एक वीर, भक्त और सशक्त कवि के साथ ही अनेक विषयों के ज्ञाता भी थे। ज्योतिष, वैद्यक, संगीत, छन्द-शास्त्र, व्याकरण, काव्य-शास्त्र, पुराण और लोक-व्यवहार की इनकी जानकारी 'वलि' में स्थान-स्थान पर देखी जा सकती है, जिनकी व्याख्या यथास्थान की जाएगी। प्रिथीराज के कृतित्व के परिप्रेक्ष्य में भी इनकी चर्चा की जाएगी।

कृति-परिचय

जिस रचना के कारण एक श्रेष्ठ कवि के रूप में प्रिथीराज की ख्याति है, वह 'क्रिसन रुकमणी री वेलि' नामक काव्य है। इसके अतिरिक्त जो अन्य रचनाएँ उपलब्ध हैं, वे निम्न प्रकार हैं

१. वसदेरावउत रा दूहा
२. दसरथदेवउत रा दूहा
३. भागीरथी (जाह्नवी) रा दूहा
४. वल्लभदेवउत (चौळ) रा दूहा
५. देवी स्तुति
६. भक्ति तथा अध्यात्म की अन्य रचनाएँ
७ प्रतापगीत
८ प्रताप-प्रशस्ति
६. प्रकीर्णक साहित्य
१० पिंगल/व्रजभाषा की रचनाएँ

(१) वसदेरावउत रा दूहा

यह १८३ स्फुट दूहों की रचना है। इसमें कृष्ण-जीवन के नाना प्रसंगों का एक-एक दूहे में वर्णन किया गया है। प्रारम्भ तथा अन्त में अनेक दूहों में कृष्ण-भक्ति की महिमा का बखान भी किया गया है। विष्णु के अवतार-रूप में माने जाने के कारण विष्णु के अनेक अवतारों तथा विरुदकथाओं को भी इस गुणानुवाद में सम्मिलित कर लिया गया है। इनके अन्य नाम 'दशम भागवत रा दूहा', 'ठाकुरजी रा दूहा', 'किसनजी रा दूहा' आदि भी हैं। कृष्ण को राजस्थानी ढग में 'वसदेरावउत' कहना राजस्थान की सास्कृतिक विशेषता है। 'कल्याणमलोत' प्रिथीराज द्वारा 'वसदेरावउत' कृष्ण की यह स्तुति इस दृष्टि से बडी सारगर्भित है। वास्तव मे, ये दूहे न होकर सोरठिया दूहे अथवा सोरठे ही हैं। दूहे की दोनो पक्तियों मे २४ मात्राएँ, अन्त मे तुकान्त लघु तथा १३-११, १३-११ के पादाशों पर यति होती है। सोरठे में दूहे के विपरीत ११-१३,

११-१३ पर यति तथा ११ मात्रा वाले पादाशों की ही तुकें मिलती है। अन्त मे, लघु-गुरु का कोई प्रतिबन्ध नही होता।

प्रिथीराज न दूहे कम ही लिखे है। अन्य रचनाएँ प्राय सोरठो मे ही है। इन्हे सम्बोधनात्मक ढग से लिखा गया है। हर सोरठे मे 'वसदेरावउत' अन्त मे आता है। ऐसे सोरठो की प्राचीन परम्परा रही है। ऊजळी-जेठवा के सुप्रसिद्ध सोरठे भी इसी शैली के है। उनमे भी हर सोरठे क अन्त मे 'जेठवा' शब्द आता है—

सावड तड़तड़तांह, थळ साम्हां चढतां थकां।
साथो लड़थड़तांह, जाडी छाया जेठवा॥

सम्बोधन का यह प्रकार भक्त और आराध्य के साथ सीधा तादात्म्य स्थापित करने म सहायक होता है। इसी शैली पर आगे चलकर 'राजिया', 'मोतिया', भैरिया आदि सम्बोधनो के नीति के सोरठे रचे गए थे। आराध्य का गुणानुवाद करते हुए भक्त की करुण पुकार ऐसे सीधे सम्बोधनो मे भली प्रकार व्यक्त हुई है—

"तू आयौ तूं आइ, सव ही दिन भगता सँगठ।
सिमरीजता सहाइ, विलँब न वसदेरावउत॥

(२) दशरथदेवउत रा दूहा

इन्ही का दूसरा नाम 'रामचन्द्रजी रा दूहा' भी मिलता है। इनकी कुल सख्या ५४ है। इनमे दशरथ पुत्र राम के महान कार्यों की स्तुति की गई है और विष्णु के अवतार के रूप मे राम को ही साक्षात् ब्रह्म मानकर समर्पण किया गया है। राम के जीवन की सभी प्रमुख घटनाएँ—जन्म, बाल्यकाल, धनुप-भग, अहिल्या-उद्धार, लका पर आक्रमण, रावण वध और विभीषण को राज्य प्रदान—वर्णित करते हुए कवि ने अहिल्या की तरह स्वय के उद्धार की विनय की है। देश-विदेश मे सभी समय, सभी स्थानो पर, राम के ही शरणागत होने की भावना व्यक्त की गई है। राम और कृष्ण मे विभेद करते हुए प्रिथीराज ने उन्ही को समर्पित अपने साहित्य को धन्य समझा है—

प्रभु ताइ किया प्रवीत, जाइ समरपिया सरव नर।
गाह कवित छन्द गीत, दूहा दसरथदेवउत॥

(३) भागीरथी रा दूहा

इस रचना मे ८८ दूहे (सोरठे) है। इन्ही के दूसरे नाम 'गंगाजी रा दूहा' तथा 'जाह्नवी रा दूहा' भी है। समस्त ससार मे एक ही ब्रह्म को व्याप्त देखते हुए प्रिथीराज ने भागीरथी और भगवान मे कोई अन्तर नही समझा है। यह

उच्च कोटि की दार्शनिकता का प्रमाण है—

हुवइ सु नामइ होइ, ब्रह्म सरेसो वास तव ।
तू नइ त्रीकम तोइ भेद नही भागीरथी ॥

गगा का पापभजक माहात्म्य, तीना भुवनो मे व्याप्ति, अवगाहन का प्रताप, मुक्ति-प्रदायिनी महिमा, भवसागर-उद्धारक-परम्परा, जल-पान से पाप-क्षरण, अपराध-क्षमापन, सकल तीर्थ-फल-प्रदान आदि परम्परागत उक्तियाँ इन दूहो का विषय है। शिव की जटाओ से उसका प्रादुर्भाव तथा राजा सगर के साठ हज़ार पुत्रो के उद्धार की चर्चा भी की गई है। भागीरथी के प्रति भक्त प्रिथीराज का अगाध श्रद्धाभाव अनेक दूहो मे प्रकट हुआ है, जिनमे से एक इस प्रकार है—

गगाजळ गुटकीह, निरणँ ही लीधी नही।
भव-भव मे भटकीह, भूत हुआ भागीरथी॥

(४) वल्लभदेवउत रा दूहा

आचार्य वल्लभ के पुत्र विट्ठलनाथ प्रिथीराज के दीक्षा गुरु थे। उन्ही की वन्दना के लिए ये दूहे रचे गए है। इस प्रसग के १२ दूहे इस नाम से उपलब्ध है। इन्हे 'वसदेरावउत' तथा 'दशरथदेवउत' के दूहो की शैली पर ही रचा गया है। भारतीय भक्ति-सप्रदायो मे गुरु की महिमा का अनवेश बखान मिलता है। गुरु और गोविन्द दोनो के खडे रहने भी गुरु की ही महिमा को सर्वोपरि मानना गुरु-भक्ति का आदर्श बन गया है। प्रिथीराज ने भी अन्य पूर्वगामी भक्तो की तरह सासारिक पुरुषो की प्रशस्तियाँ करने की निस्सारता का अनुभव किया था। इसीलिए परमात्म-प्राप्ति का मार्ग प्रदर्शित करनेवाले अध्यात्म गुरु को उन्होने लोहे को स्वर्ण बनानेवाले पारस की भाँति चामत्कारिक समझकर प्रणाम किया। विट्ठलनाथ ने ही प्रिथीराज को कृष्ण-भक्ति का प्रसाद दिया था, जिसकी साक्षी मे कवि ने कहा था—

जिण अम सू आलोज, दामोदर दरसावियो।
सगळा पायो सोज, वाल्हो वल्लभदेवउत॥

(५) देवी-स्तुति

भगवती करणी बीकानेर राजवश की अधिष्ठातृ देवी रही है। वैसे 'नागणेची' भी राठौड वश की इष्ट देवी रही है, पर करणी ने राव बीका को राज्य-स्थापना मे जो मदद दी तथा राव जैतसी को कामरां से हुए युद्ध मे विजय दिलवाई, उन घटनाओ के प्रति आभार मानते हुए बीकानेर राजवश मे करणी की मान्यता सर्वाधिक रही है। प्रिथीराज राव जैतसी के पोते ही थे और उनके मस्तिष्क मे वह घटना ताजी ही रही होगी। इसीलिए यह स्वाभाविक

था कि करणी के प्रति उनकी श्रद्धा भी उच्चस्तरीय रही। प्रिथीराज के जीवन मे भी देवी की मदद का प्रसग आया बताया जाता है और उस समय उन्होंने देवी रूप म अवतरित 'राजबाई' का स्मरण किया था। चारण समाज म देवी रूप मे मान्यता प्राप्त करनेवाली कई चारण कन्याएँ हुई है, जो व्यापक क्षेत्र म पूजी गई हैं। प्रिथीराज की भक्ति उस उच्च स्तर पर पहुँच गई थी कि वे समस्त ब्रह्माड म एक ही शक्ति का सचरित देखते थ। उनके लिए कृष्ण, राम तथा अन्य किसी भी देवता म कोई अन्तर नही था। वे गगा को भी उसी ब्रह्म की प्रतीक मानते थे। इसलिए चारण देवियो म भी उसी चरम शक्ति के दशन करना उनके लिए स्वाभाविक था।

दवी स्तुति विषयक छन्द प्रिथीराज ने अधिक नही लिखे। केवल एक ही गीत ज्ञात है जिसे प्रस्तुत पुस्तक के परिशिष्ट मे सम्मिलित किया गया है। यह गीत ही वह पुकार है जो प्रिथीराज न सकट के समय की थी। चारण देवियाँ अपने वश के भक्त कवियो की पुकार पर स्वय आकर इस प्रकार मदद करती रही है। एसी अनेक घटनाएँ राजस्थानी साहित्य म कही सुनी जाती है। अलवर के कवि रामनाथ कविया को भी कारावास से मुक्त करवाने के लिए देवी कवि की पुकार पर सफेद चील का रूप धारण करके आई थी ऐसा विश्वास किया जाता है।

(६) भक्ति तथा अध्यात्म की अन्य रचनाएँ

वैसे तो प्रिथीराज का समस्त साहित्य ही भक्ति तथा अध्यात्म से ओत-प्रोत है, पर वलि तथा कृष्ण राम भागीरथी के दूहे और देवी-स्तुति विषयक रचनाओ के अतिरिक्त अन्य अनेक विधाओ मे भी प्रिथीराज ने अपने भक्ति विषयक उद्गार प्रकट किए हैं। इनम निम्नलिखित रचनाएँ सम्मिलित है—
१ डिगल गीत, २ छप्पय, ३ आरती, ४ सोहलो, तथा ५ दूहे।

भक्ति तथा अध्यात्म चिंतन के ज्ञात डिगल गीतो की सख्या १२ है। पर बहुत सम्भव है कि ये गीत अधिक रहे हो। तत्कालीन राजस्थानी साहित्य मे गीतो की रचनाएँ सर्वोपरि थी। गीतो के अपने आप म एक सम्पूर्ण कृति होने के कारण भी इनका प्रचलन बहुत था। दूहे की तुलना म इसका आकार अधिक विस्तृत और कथ्य भी व्यापक है। अनेक दूहे मिलकर भी एक गीत की तुलना इसलिए नही कर पाते कि दूहे का कथ्य अपने आप म पूर्ण होते हुए भी इसक वर्णन की कोई स्वाभाविक परिणति नही है। इसक विपरीत गीत आदि से अ त तक एक गुंफावट म बँधा रहता है और इसके कथ्य की परिणति एव अन्विति पूर्ण रूप स हो जाती है।

प्रिथीराज के गीत भगवद्-भक्ति विषयक तथा वैराग्य-भावना को व्यक्त

करनेवाले है। अपने पिता कल्याणमल की मृत्यु पर परम्परागत रूप से मरसिया न कहकर उन्होंने जीवन की निस्सारता व्यक्त करनेवाला जो मार्मिक गीत रचा है, वह प्रिथीराज की श्रेष्ठ रचनाओं में गिना जाने योग्य है। इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने आत्म-समर्पण की जो भावना व्यक्त की है, वह उनके एक अन्य श्रेष्ठ गीत का विषय है। (ये दोनों गीत परिशिष्ट में दिए गए है।)

एक गीत में पनिहारी के भाव का समावेश कर कृष्ण-मिलन की बात कही गई है तो एक अन्य में विरहिणी राधा द्वारा किसी पथिक के हाथ कृष्ण के पास सदेश पहुँचाया गया है। एक गीत में इन्द्राणी, रुद्राणी, ब्रह्माणी आदि देवियाँ रुक्मिणी के भाग्य की सराहना कर रही हैं तो दूसरे में एक लाख योनियों का नाश करने और सवा लाख का सृजन करनेवाले त्रैलोक्यपति को नमस्कार किया गया है। इस गीत मे परमात्मा को 'जूनानाथ', 'बूढानाथ' तथा 'अनतमहर' आदि नामों से अभिहित किया गया है—

असमान कुळह गत माळा उडीयण, रार विन्है सूरज राकेस।
यळ मेखळी वणाया एहो, अनत महर तोनू आदेस॥

अन्य गीतों में द्रौपदी के चीरहरण के समय कृष्ण द्वारा वस्त्र-पूर्ति का प्रसग, नानावतारों द्वारा आपद्ग्रस्त भक्तों की सहायता करने के वृत्तात, राम द्वारा विभीषण पर की गई कृपा तथा ऐसी ही दूसरी बातें कही गई है।

'आरती' नामक पद्यों में जगन्नाथ, बदरीनाथ, अयोध्या, मथुरा, हरद्वार, गगासगम, रामेश्वर, द्वारिका आदि तीर्थों में वास करनेवाले भगवान के नाना रूपों के लिए उसी परम पिता का वन्दन किया गया है, जिनकी चर्चा वेद करते हैं, चारण स्तुति करते हैं तथा ब्रह्मा, शारदा आदि सभी जय-जयकार कर रहे है। ऐसे ही एक अन्य रूपक में काव्य-रचना का तादात्म्य कृष्ण की छवि से दरसाया गया है। कवित्त को दिव्यासन, पढने की लय को 'चमर', छन्दबध रचना को 'छत्र', अक्षरों को उज्ज्वल मोती, दूहों को 'दमामा', गाहा को 'मृदग', पिंगल (छन्द) को भेर-भरह, रूपकबद्ध रचना को 'विरुद' आदि बतलाते हुए सागरूपक की रचना की गई है। यह ध्यान देने योग्य है कि प्रिथीराज ने अनेक स्थानों पर अपनी साहित्यिक रचनाओं को प्रभु की सेवा में इसी भावना से समर्पित करने की चेष्टा की है।

'सोहलो' नामक रचना में राधा कृष्ण के दुलहिन और दूलह रूप में घर आने पर यशोदा द्वारा 'वधा' लेने का वर्णन किया गया है। इस 'सोहलो' में लोक-गीतों की शैली में मोतियों से चौक पुराने, सहोदरा द्वारा 'आरता' करने, चदन का तोरण बँधवाने आदि का वर्णन है।

'छप्पय' नामक रचना मे २१ छप्पय छन्द हैं। इनमे भी कृष्ण की भक्ति

की ही चर्चा है। एक छप्पय मे कवि यह अनुभव करता है कि वह आज तक ऊजड रास्ते पर ही चलता रहा है। कृष्ण-भक्ति को छोडकर व्यर्थ भटकता रहा है। इसी भाव को आगे बढाते हुए उसे अनेक दृष्टान्तो से स्पष्ट करने के लिए अन्य कई छन्द भी लिखे है। आगे चलकर अनेक भक्तो के प्रसगो का उल्लेख करते हुए उन पर हुई भगवद्-कृपा की महिमा बखानी गई है। और इन्ही वर्णनो के साथ कवि एक बार पुन दार्शनिक चिन्तन की गहराइयो मे उतर कर व्यक्त से अव्यक्त की ओर बढ जाता है। वह उस रहस्य-लोक की झाँकियाँ देखने लगता है, जिन्हे अनदेखे सपनो की तरह ही भावातीत अवस्था मे क्षण-भर के लिए देखकर धन्य हुआ जाता है। यही सौभाग्य प्रिथीराज को मिला है। उनका भावुक मन उस परमात्म-ज्ञान की स्फुरणा को पकडने के लिए प्रेरित-सा प्रतीत होता है। ऐसे कुछ उत्कृष्ट कथन इस प्रकार है।

नाद मूळ थड वेद, डाळ अठारह पुराणह।
सासत साख प्रसाख, पान सुवचन प्रमाणह।
सीतळ अति सुगन्ध, गरुव गम्भीर गमागमि।
अमर असुर अनि अनि, भगत वीटियो भुवगमि।
वासिया भुवण चउदह विमन, वास जास कीरति वळी।
तिल्ल-तिल्ल वार हू हरि तणा, बावन चन्दण ना वळी॥

यह विराट कल्पना वेदो के पुरुष सूक्त की-सी सर्व व्यापकता और प्रभा-वोत्पादकता लिये हुए अखिल ब्रह्माड के कण-कण मे रमी हुई उसी आद्या-शक्ति की ओर सकेत है।

दूहे—**हरिसुमरण उपदेश** शीर्षक से प्राप्त इन ११ दूहो मे हरि-भक्ति का माहात्म्य ही वर्णित किया गया है। अन्यत्र प्रकट किए गए एक भाव मे कवि कहता है कि भगवद्-स्तुति को छोडकर जो लोग मानवी जनो की प्रशस्तियाँ करते हैं, वे गधो के गलो मे रत्नमालाएँ डालते है—

प्रथि हरि तज गुण मानवा, जोडै किया जतन्न।
जाणि चितभ्रम बधिया, गळ गादहा रतन्न॥

यही भाव प्रकारान्तर से इस प्रकार प्रकट किया गया है—

प्रिथु जु मैं अवरा पुणे, गुण छन्डे गोपाळ।
माणक गुथ मोताहळा मड गळि घाती माळ॥
हरि परिहरि करि अवर सू, आस विलम्बी आणि।
तरु छन्डे लागी लता, पत्थर चै गळ जाणि॥
वीथी हरि वीसारि कर, अनि सभरै अयाण।
रति छन्डे पति आपणे, जारि विलूधी जाण॥

एक अनन्य भक्त की तरह प्रिथीराज इन दूहो मे और सभी का अवलम्ब

छोड़कर गोविन्द का ही आश्रय लेने की सीख देते हैं, क्योंकि जैसे तूंबी के सहारे ही पत्थर पानी पर तैर सकता है वैसे ही हरिनाम-सुमरण से ही भवसागर से पार उतरा जा सकता है।

(७) यशगीत

'सात री कविता' के पारम्परिक नाम से जाने गए ऐसे डिंगल-गीत राजस्थानी साहित्य में हजारों की संख्या में सरलता से मिल सकते हैं। 'दूहों' के बाद सम्भवतः यही एक प्रमुख विधा है, जिसे प्राचीन डिंगल कवियों ने अपनाया। कोई विरला ही ऐसा कवि रहा होगा जिसने दूहे और गीत नहीं लिखे हों। गीतों के प्रधान विषय वीरों के विशिष्ट कृत्य ही रहते आए हैं। मृत्यूपरान्त लिखे गए 'मरसिया' गीत भी एक प्रकार से प्रशस्तिपरक ही हैं। निन्दात्मक गीत भी लिखे गए हैं, पर उनकी संख्या दूसरी प्रकार के गीतों की तुलना में नगण्य है। प्रिथीराज द्वारा रचे गए प्रशस्तिपरक गीतों की संख्या अनुमानतः चालीस है। बहुत सम्भव है कि भविष्य में और खोज होने पर यह संख्या बढ़ जाए। गीतकार का नाम गीतों में देने की परम्परा नहीं रहने से निश्चयात्मक रूप से यह कहना बड़ा कठिन हो जाता है कि अमुक गीत अमुक कवि का कहा हुआ है। विद्वानों की मान्यता और हस्तलिखित ग्रन्थों के उल्लेख ही एकमात्र प्रमाण हैं जो कभी-कभी असत्य भी सिद्ध हो जाते हैं। प्रिथीराज द्वारा रचे गए इन गीतों में कुछ की पहचान तो सरलता से की जा सकती है, क्योंकि ये गीत जिन व्यक्तियों के लिए कहे गए हैं, वे उनके समकालीन और निकट के लोग रहे हैं।

महाराजा रायसिंह, महाराजकुमार दलपतसिंह तथा बड़े भाई रामसिंह सम्बन्धी गीत स्पष्ट ही प्रिथीराज द्वारा रचे-समझे जा सकते हैं। महाराणा प्रताप की वीरता के भी वे कायल रहे थे। प्रताप की प्रशंसा में दूहे भी उन्होंने रचे थे। वैसे भी मेवाड़ के राजवंश से बीकानेर राजवंश के वैवाहिक सम्बन्ध रहे थे। रायसिंह तथा रामसिंह दोनों ही मेवाड़ की राजकुमारियों से विवाहे थे। प्रिथीराज का स्वयं का भी एक विवाह वहीं हुआ माना जाता है। इसी प्रकार, खंगार जगमालोत की प्रशंसा का भी गीत उनके एक वैवाहिक सम्बन्ध का स्मरण कराता है। खंगार के पुत्र नारायणदास से प्रिथीराज की पुत्री का विवाह हुआ था। पर इन सम्बन्धों की पहचान का यह आशय नहीं है कि ऐसे सम्बन्ध गीत-रचना के लिए प्रेरक रहे थे। इनके माध्यम से रचना की सम्भावना की ही बात की जा सकती है। वास्तव में, किसी भी सच्चे कवि के लिए ऐसी शंका करना भी उचित नहीं होगा, और फिर प्रिथीराज जैसे वेलाग व्यक्ति के लिए तो इस प्रकार की सम्भावना होने का ही कोई प्रश्न नहीं उठता।

प्रिथीराज ने जिन अन्य वीरो के गीत लिखे हैं, उनमें प्रमुख रूप से कल्लो रायमलोत, जगमाल सिसोदियो, रायसिंह देवडो, सादुल पुंवार, सेरखान, सारगदे मांडणोत, फहीम पूंजावत, वैरसल प्रिथीराजोत, मोटो मोहिल, सांदू रामो, जसो चारण, गोपालदास मांडणोत, पाहू भीमो, मेघो मोहिल, रामो मानमलोत, अचलदास बलभद्रोत, भोपत चहुवाण, मण्डलो अचलदास, दोलतखान नारायण दासोत, जोध सोनवी, ऊदा मेहावत, सखो सूजावत तथा रतनसी के नाम गिनाए जा सकते हैं। सभी गीत परम्परागत शैली में और प्राय प्रयुक्त उक्तियों के माध्यम से कहे गए है। प्रिथीराज के कवित्व की कोई विशेष छाप इनमें दृष्टि-गोचर नही होती। प्रिथीराज को विशेष प्रिय रूपकबद्ध वर्णनों की छटा इनमें सहज ही पहिचानी जा सकती है। जगमाल सिसोदिया के गीत में हस का रूपक देखने योग्य बन पडा है—

> बळावळी गोळावहे वीर हव वापरी, चाच खग वाहतो काढतो चाल।
> दवडा तणी घड माहि सीसोदियो, माल्हियो मानसर हस जगमाल ॥१॥
> चाच तरवारिया रतन सिर चुगतो, कमळि पग दीयतो धडा काही।
> सुचलि चालियो उदैसिध समोभ्रम, माल्हियो आवुबा सत माही ॥२॥
> मारजळबोळ वळवेल सीसोहिया, बिरदपति बीटियो घणै वाणै।
> पिमण घड रहचि धड चापतो पोयणी, जगो पावासरो हस जाणै ॥३॥
> हस गति हस जगमाल हालै मग्रहि, धारि आवारि ले लहरि धायो।
> सारि अरि मारि तणो नाए सधण, पार सागाहरै सरग पायो ॥४॥

रायसिंह देवडा के गीत मे राठौडो और सिसोदियो को भाँग-तिजारा व गुड की सज्ञा देते हुए 'कसूंमा' तैयार करने का रूपक बांधा गया है। इसी प्रकार सादुल पँवार के गीत मे पत्र लेखन का, गोपालदास मांडणोत के गीत में बारात का, दलपत रायसिहोत के गीत मे रति-प्रसग का तथा खीचियो से सम्बन्धित गीत मे दूध को कडाई मे उबालने का रूपक है। रूपको की यह परम्परा भी नवीन नही है। ऐसे बहुसख्यक रूपक गीत साहित्य मे उपलब्ध है। इनका शैलीगत विकास कला-पक्ष का ही अग बन कर रह गया था, भावो की गरिमा इनसे दूर ही रही थी।

(८) प्रताप-प्रशस्ति

प्रताप सम्बन्धी दूहे व गीत प्रिथीराज की कृति के रूप मे प्रसिद्ध रहने पर भी इतिहासज्ञों ने इस प्रकार की सम्भावना से इन्कार किया है। जैसा कि पूर्व मे चर्चा की गई है, रचना की सम्भावना को नकारा नही जा सकता। प्रिथीराज द्वारा प्रताप को लिखे गए पत्र मे भेजे गए पाँच दूहो के अतिरिक्त ६ दूहे इस प्रसग के और उपलब्ध है। इनमे से कुछ दूहे दुरसा आढाकृत समझी जानेवाली 'विड़द

छिहत्तरी' में भी दिए गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कर्नल टॉड ने प्रताप के चरित्र को ऊँचा उठाने के लिए जो प्रयास किया, उसी के परिणामस्वरूप कुछ कवियों ने प्रताप विषयक रचनाएँ करके प्राचीन प्रतिष्ठित कवियों के नाम से प्रचारित करने के प्रयत्न किये। 'विडद छिहत्तरी' के कतिपय प्रसंगों, रचनाओं की भाषा और कुछ अन्य प्रासंगिक उल्लेखों से अनेक विद्वानों ने उक्त रचना को दुरसा कृत मानने से अस्वीकार कर दिया है। कुछ वैसी ही शंका इन दूहों की भाषा को देखकर इनको प्रिथीराज की रचना मानने में की जा सकती है। दूहों की सम्बोधन-शैली, अकबर की अवमानना में प्रयुक्त शब्द तथा 'विडद छिहत्तरी' के कुछ दूहों से इनका साम्य इस शंका को आधार प्रदान करते हैं। दूहा के अतिरिक्त प्रताप के लिए दो-तीन गीत भी प्रिथीराज ने रचे थे, जिनकी चर्चा यथागीतों के सन्दर्भ में की गई है।

प्रकीर्णक—स्फुट साहित्य की राजस्थानी रचनाओं में लालाँद तथा चम्पादे विषयक दूहे, कूट दूहे, सज्जन भाव के दूहे तथा कुण्डलियाँ आदि हैं।

चम्पादे सम्बन्धी दूहों में शृंगार रस के कुल १४ दूहे हैं, जिन्हें प्रिथीराज ने अपनी पत्नी को सम्बोधित कर लिखा है। प्रिथीराज का अपनी पत्नी से अत्यधिक प्रेम था, उसका अनुमान इन दूहों से सहज ही लगता है—

हसो चीतै मानसर, चकवी चीतै भाण।
तिम हूँ तूनै चीतवूं, भावै जाँण म जाँण ॥

सम्भवतः चम्पादे से इस प्रगाढ प्रेम के कारण ही वे चम्पक पुष्प को साहित्य में इतना महत्त्व देते थे। एक भावुक हृदय कवि से यही आशा की जा सकती है।

कूट दूहों के कुछ नमूने भी उपलब्ध हैं। कूट पद रचने की प्रणाली का मूल सन्त-कवियों की उलटबाँसियों में खोजा जा सकता है। यद्यपि उनके जैसे गूढ अर्थ का इनमें अभाव था, पर साहित्यकारों के मनोरंजन और कौतूहल के लिए ऐसी रचनाएँ चलती रहती थीं। कूट पद रचयिताओं को आम आदमी बड़े ज्ञानी और पण्डित समझते थे। सम्भव है, युग के उस प्रवाह में प्रिथीराज ने भी कुछ कूट दूहे लिखे हों। (ऐसा एक कूट छप्पय तथा एक दूहा परिशिष्ट में देखा जा सकता है।)

सज्जन भाव के दूहे

ये दूहे ब्रजभाषा तथा डिंगल दोनों में ही लिखे गए हैं। इन दूहों में अनेक प्रकार के भाव प्रकट किए गए हैं। प्रिय के लिए प्रियतमा का सखी के प्रति कथन द्रष्टव्य है—

आली मोरा अवगुणाँ, साहिब केर गुणाँह।
बूंद परिक्खा रेण-कण, पार न लब्भै ताँह ॥

इसी भाव का तादात्म्य वे अपने अनन्य प्रियतम त्रिविक्रम से करते हुए कहते हैं—

जै मैं घण अवगण किया, तो लेखो तू हत्थ।
तू अवगण सन्दो श्रीकमा, तू ही काळीनत्थ॥

सज्जन और असज्जन के भेद को स्पष्ट करते हुए प्रिथीराज ने कौए और हंस का उदाहरण देकर सांसारिक माया और भगवद्-भक्ति का भेद भी समझा दिया है—

मळमाया ऐंठी मछळी, सुणि पृथुदास सुवंस।
जे लग्गै सो कग्गलो, जे छन्डै सो हंस॥

और असली सज्जन-भाव की परिणति प्रभु भक्ति में ही करते हुए प्रिथीराज ने अपने स्वाभाविक उद्गार पुनः प्रकट किये हैं—

जात वळै नहिं दीहड़ा, जिम गिर निरझरणाह।
उठ रे आतम धरम कर, सुवै नचिंता काह॥

कुण्डळिया

इस नाम से भी चार छन्द मिले हैं। यह एक प्रसन्नता और विस्मय का विषय है कि एक उत्कृष्ट भक्त और शृंगार रस के सिद्ध कवि की कल्पना में राजस्थान की धरती और यहाँ के चतुर्दिक् का यशोगान किया गया है। इस वर्णन में भी नारी रूप वर्णन का ही विशेष महत्त्व दिया गया है। ये कुण्डळिया सुन्दर होते हुए भी उन 'ऊँचाइयों' को नहीं छू पा रहे हैं जिन पर प्रिथीराज अपनी दूसरी उत्कृष्ट रचनाओं में प्रतिष्ठित दिखाई देते हैं। "मरुधर देश के सौन्दर्य में देशी वेशभूषा पहिन यहाँ की गौरांगियाँ अपने कोकिल-कण्ठों से घर-घर को गुंजा रही हैं। उनके नेत्र कुरंग से, गात केसर के रंग का, देह कंचन-स्तम्भ जैसी वेणी सर्पिणी की भाँति और भौंह धनुष सी है। नंगी तलवार की तरह, अप्सरा की-सी रूपवाली वे अमृत वचन बोलनेवाली 'पूगल' की पद्मिनियाँ 'शिव' की कृपा से ही प्राप्त हो सकती हैं।' यह सारा वर्णन अत्यन्त पारम्परिक और छिछला-सा ही है। यह मानने को मन नहीं करता कि प्रिथीराज ऐसी रचनाएँ कर सकते थे, लेकिन विद्वानों ने उन्हीं के नाम से इसका उल्लेख किया है। बहुत सम्भव है, यह प्रिथीराज नामक किसी अन्य कवि की रचना हो। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

अपछर जेही उरवसी रंगी लोई वेस।
पूगळ केरी पदमणी, त्रिया मुरद्धर देस।
त्रिया मुरद्धर देस कै छैला टोळिया।
कासू सायिवराज कै मीठी बोलिया।
पावै गळिया पैठ कै करवत सन्धिया।
तापे घूमर पान जिण्हा रा लधिया॥

पिंगल/व्रजभाषा की रचनाएँ

कृष्ण-भक्ति में पगे हुए प्रिथीराज पर व्रज भाषा के साहित्य का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। वैसे भी अवधी के बाद व्रज धीरे-धीरे उत्तरी भारत की राष्ट्र-भाषा का रूप लेती जा रही थी। तुलसी का 'रामचरित मानस' चौपाइयों और दूहों में लिखी जानेवाली प्रेम-कथाओं की परम्परा को राष्ट्रीय काव्य की गरिमा तक पहुँचाने में सफल हो गया था। पर सूरदास, अष्टछाप के कवियों, मीराँ तथा अन्य अनेक भक्त कवियों ने व्रजभाषा का सम्मोहन भी चतुर्दिक् व्याप्त कर दिया था। वृन्दावन समूचे देश का श्रेष्ठतर तीर्थ बन रहा था और हजारों-लाखों भक्त-जन मथुरा-वृन्दावन की ओर आकर्षित होकर आ रहे थे। कृष्ण-लीला के नाना प्रसंगों को व्रजभाषा काव्य में मुखर देखकर वे उस माधुर्य का प्रसाद लेकर लौटते थे और उसके संस्कार उनके परिवारों में घुल-मिल जाते थे। प्रिथीराज का परिवार भी ऐसा ही एक आदर्श परिवार था। प्रिथीराज के दीक्षा-गुरु भी स्वयं विट्ठलनाथ ही थे। राजस्थान में व्रजभाषा के राजस्थानी रूप—पिंगल—में रचनाओं की एक सुदीर्घ परंपरा भी रही थी। इसी पृष्ठभूमि में प्रिथीराजकृत पिंगल/व्रजभाषा की रचनाएँ द्रष्टव्य हैं। इन रचनाओं में 'स्फुट दूहे', 'कान्हैयानृत्याष्टक' तथा 'राधा-शृंगार-वर्णन' के नाम गिनाये जा सकते हैं। स्फुट दूहों में 'प्रवत्स्य-त्पतिका', 'मन अन्य भाव', 'ज्ञानभाव', 'सज्जनभाव' तथा 'एकांगीभाव' आदि में सम्बन्धित रचनाएँ हैं। कुल दूहे लगभग २५ ही हैं। श्लेषात्मक उक्ति का एक उदाहरण इस प्रकार है—

दीया है जग मे भला, दीया करो सहु कोय।
घर मे धरयो न पामीयै, जे कर दीया न होय।।
दीया का गुण तेल है, दीया की वडि बात।
दीये उजाळा हुई रहै, दीये बिहूणी रात।।
अखर एक परिणाम हुई, कहत पृथु कवि हेर।
ऊ घर दीया ऊ कर दीया, मज्जल उज्जल फेर।।

ज्ञान भाव के दूहों में अरहट को लक्षित कर सृष्टि के क्रम का चित्र खींचा गया है—

वसती तें ऊजर भई, ऊजर तें पुनि वास।
इह जुग अरहट की घडी, देखि डरयो प्रिथुदास।।

राधा के शृंगार-वर्णन की तीन षट्पदियाँ उपलब्ध हैं, जिनमें नख-शिख के पारम्परिक उपमानों का प्रयोग किया गया है—

आनन वैनी नयन बैन पुनि दसन सु कटि गति।
ससि सर्पिन मृग पिक अनार केहरि करानन पति।।

पुरन खिझत अन तरन पक्व वर पच पुष्ट बल।
सरद पताल विछोह बाग तरुलता गिरि वन वज्जत॥
निसि सनिवास सावक युक्त विगस प्रभूती मद झरत।
पृथ्वीराज भनत वसी वजन अम वनिता बन-बन फिरत॥

'कन्हैयानृत्याष्टक' नामक अमृतधुनि पद संगीत प्रधान रचना है। इसमें नृत्य के बोलों का समावेश करते हुए शब्द रचना की गई है। इससे ज्ञात पडता है कि काव्य के अतिरिक्त संगीत नृत्य आदि ललित कलाओं का भी प्रिथीराज का ज्ञान उच्चस्तरीय था। ऐसी नृत्य प्रधान रचनाएँ अन्य कवियों ने भी की हैं जिनसे प्रतीत होता है कि ऐसी रचनाओं की भी एक रूढि-सी प्रचलित हो गई थी। नृत्याष्टक के शब्द संयोजन की एक बानगी इस प्रकार है—

धुधुकटि धुधुकटि धुकटि धुकटि कटि मधुर मधुर धुनि करत कन्हैया।
वजत पखावजि धुधुमपि धुधुमपि धपमप धपमप थइ थइ थैया।
धागडन्नि ताल ताल मिनि झुनकटि ततथइ ततथइ थइ थइ थैया।
सकल प्राण प्रिथीराज सुकवि कहि बजत मृदंग तत नचत कन्हैया॥

श्रीकृष्ण के रूप-वर्णन तथा लीला-पराक्रम के विभिन्न प्रसंगों को समेटते हुए उनके नृत्य को इस अष्टक में बखूबी बांधा गया है।

उपर्युक्त सभी विधाओं की विविध रचनाओं में प्रिथीराज के कवित्व, काव्य शास्त्र के अध्ययन, अनेक कलाओं तथा ज्ञान विज्ञान के अंग उपांगों की जानकारी, भाषा और छन्द पर असाधारण अधिकार तथा भक्ति के रहस्य-लोक में मँडराती हुई कवि की भावनाओं का रससिद्ध स्वरूप सभी प्रत्यक्ष हो उठते हैं।

वेलि—एक अध्ययन

परम्परा और नामकरण

'वेलि' सज्ञक रचनाओ की एक सुदीर्घ और पुष्ट परम्परा रही है। पर सभी 'वेलि' रचनाएँ छन्द और विषय-वस्तु की दृष्टि से समान नही हैं। धार्मिक साहित्य की जैन वेलियाँ एव निर्गुणी सन्तो और लौकिक शैली की सन्त साहित्य की वेलियाँ, तथा चारण साहित्य की ऐतिहासिक और भक्ति-विषयक वेलियाँ बडी सख्या मे ज्ञात हैं। 'वेलि' को प्रिथीराज ने 'लता' के रूप मे ही माना है और कृष्ण की यश-गाथा को वल्लरी की तरह पल्लवित, पुष्पित और प्रसरित होते देखना ही उनका अभीष्ट रहा है। वेलि के माध्यम से वे अपनी वाणी को भी जनप्रिय होते देखना चाहते हैं—

पिंडि नख सिख लगि ग्रहणे पहिरिए, महि मू वाणी वेलि मई।
जग गळे लागी रहै अमे जिमि, सहै न दूखण जेम सई॥

(नखशिख तक गहनो से सुसज्जित, मेरी सुन्दरी-वाणी इस वेलि के माध्यम से ससार के गले लगी रहे और इसमे किसी प्रकार का दोष न लगे।)

स्पष्ट है कि वल्लरी के रूप मे कृष्ण का यश दिन-दिन बढे, यही भाव वेलि के नामकरण के मूल मे है। 'यश-वृद्धि' के लिए 'वेलवधै' का मुहावरा लोक-व्यवहार मे विद्यमान है। इसलिए वेलि सज्ञक नामकरण के पीछे चरित-नायक की यश-वृद्धि की कामना ही प्रधान कारण रहा है। इस अर्थ मे धार्मिक, ऐतिहासिक आदि सभी वलियाँ समाहित की जा सकती है।

सस्कृत साहित्य मे लता, वल्लरी, लतिका, स्तवक, सुमन, कुसुमावलि आदि अनेक प्रकार के नाम वृक्षो, लताओ, पुष्पो, पुष्प-गुच्छो आदि से सम्बन्धित रखे जाते रहे हैं। इन्ही लता, वल्लरी सज्ञक रचनाओ के अनुकरण पर भाषा-काव्यो मे ये नाम ग्रहण किए गये। लता के विस्तार और निरन्तर पल्लवित एव कुसुमित होने के भाव ने कवियो को अधिक रिझाया। इसीलिए लता या वेलि नामक रचनाओ का प्रचलन बढा। देवताओ, वीरो, आश्रयदाताओ आदि के यश गान के लिए यह नामकरण उपयुक्त समझा गया। राजस्थानी तथा व्रज साहित्य, दोनो म

ही प्राप्त बहुसंख्यक वेलियाँ इसकी साक्षी है।

डिंगल की ऐतिहासिक तथा भक्ति-प्रधान वेलिया मे छन्द की समानता को देखकर कुछ लोग यह अनुमान लगाते हैं कि 'वलियो' गीत छन्द मे लिखी जाने के कारण ही, ये रचनाएँ वेलियाँ कहलाई। पर ऐसा सोचना ठीक नही है क्योंकि जैन-धर्म की तथा निर्गुणी सन्तो की वलिया का 'वेलियो' गीत छन्द से कोई सम्बन्ध नही है। दूसरे, यदि 'वेलिया' गीत छन्द के अनुसार ही नामकरण किया जाता तो 'क्रिसन रुकमणी री वेलि' न कहकर 'क्रिसन रुकमणी री वेलियो' कहा जाता। छन्दों पर किए गए रचना-नामों मे यही प्रवृत्ति पाई जाती है, यथा—मानसिंह रा झूलणा, ढोला मारू रा दूहा, सीताराम चौपई, मयण भट्ट रा कवित्त, विवेक वार निसाणी, भूधर मोरी री गजगत, पड्ऋतु झमाल,जठवँरा सोरठा, हाला झाला रा कुण्डलिया, इत्यादि। राजस्थानी रचनाओं के विकास-क्रम से सुपरिचित विद्वान इस वस्तुस्थिति से भली-भाँति परिचित हैं। इसलिए 'वेलियो' गीत छन्द मे लिखी जाने से ही 'वेलि' नामकरण की सार्थकता सिद्ध करना भ्रामक है।

विषय-वस्तुगत साम्य केवल व्यापक रूप से ही ठीक कहा जा सकता है। चरित-नायक भले ही देवता हो या मानव, वीर हो या भक्त, राज परिवार का सम्पन्न व्यक्ति हो या विरक्त सन्त, उसकी कीर्ति का कथन ही वेलि मे अभीष्ट है। ऐतिहासिक वेलियों मे भी भले ही घटनाओं को प्रधानता दी गई हो, पर विशिष्ट वीर की प्रशस्ति ही रचना का मुख्य आधार होता है।

प्रिथीराज से पूर्व की जैन साहित्य की वेलियो मे 'चिहुँगति वेलि' (१५२० वि०), 'जम्बू स्वामी वेलि' (१५३५ वि०), 'रहनेमि वेलि' (१५३५ वि०) और 'पचेन्द्रिय वेलि' (१५५० वि०) के नाम गिनाए जा सकते हैं यद्यपि यह नामावली बहुत बडी हो सकती है। वेलियो का यह क्रम जैन साहित्य म निरन्तर चलता रहा था। डिंगल की वलि रचनाओ म प्रिथीराज स पूर्व की वेलियो मे चूँडा दधवाडिया कृत 'गुण चाणिक वेलि', तथा साँखला करमसी रुणेचा कृत 'कृष्ण जी री वेल' प्रमुख हैं। प्रिथीराज की वलि के पश्चात् बननेवाली वेलियो मे 'त्रिपुर सुन्दरी वेलि', 'महादेव पारवती री वेलि', 'रायसिंह री वेलि', 'सूरसिंह री वेलि', तथा 'अनूपसिंह री वेलि', है। 'देई दास जैतावत री वेलि', 'राणे उदयसिंह री वेलि' आदि अनेक और नाम भी गिनाये जा सकते हैं। लौकिक वलिया मे ' 'तोळादे री वेल', 'रूपादे री वेल', 'पीर गुमानसिंघ री वेल' आदि नाम उपलब्ध है। ये भी सन्तो से सम्बन्धित ही हैं तथा इनम छन्द विषयक कोई प्रतिबन्ध नही दिखाई देता। इसलिए वेलि काव्यो की परम्परा और विषय वस्तु को देखते हुए इसके नामकरण और छन्द-विशेष सबधी कोई ऊहापोह की गुंजाइश नही है।

रचनाकाल

डॉ० तेस्सितोरी ने 'वेलि' का सम्पादन करते समय रचनाकाल सबंधी निम्न पद्य को ही मान्यता दी है—

वरसि अचळ गुण अग ससी सवति, तवियो जसकरि स्री भरतार।
करि स्रवणे दिन राति कठि करि, पामै स्रीफल भगति अपार॥

इसके अनुसार सवत् १६३७ ही रचना-सवत् ठहरता है। सन् १९१९ मे प्रकाशित उस ग्रन्थ के बाद प्राप्त कुछ प्रतिलिपियो मे रचना सवत् से दूसरे ही पद्य मिले हैं, जिनमे १६३६, १६३८, १६४४ आदि रचना-सवतो के उल्लेख हैं। एक प्रति मे 'वसु शिव-नयण रस शशि वछरि' १६३८, दूसरी मे 'सोळैसै' सुक्ल चुआळे वरसे १६४४ तथा तीसरी मे 'सोलह सौ सवत् छत्रीसा वरसे १६३६' पाठ दिया है। इन सबके आधार पर रचना सवत् १६३६ से १६४४ के बीच मानी जा सकती है। विद्वानो की यह भी मान्यता है कि रचना का प्रारम्भ तो १६३६ या १६३७ मे ही हो गया होगा, पर उसकी समाप्ति १६४४ मे हुई होगी। पर ऐसा कहते समय वे भूल जाते हैं कि रचनाकाल का उल्लेख जब रचना के अत मे हो तो वह समाप्ति का ही सूचक होता है। प्रारभ करने का सवत् तो प्रारम्भ के वर्णन के साथ ही होता है। और फिर ३०५ छन्दो की छोटी-सी रचना के लिखने मे किसी सिद्धहस्त कवि को सात-आठ वर्ष की लबी अवधि लगे, यह मानने को जी नही चाहता। वेलि की प्राचीनतम प्रति सवत् १६६६ की गागरोणगढ मे लिखी उपलब्ध हुई है, जिसमे प्रिथीराज के छोटे भाई 'सुरताण' का नाम आया है। सुरताण वहाँ के हाकिम रहे बताये जाते है। इसलिए प्रति की प्रामाणिकता असदिग्ध है। पर रचना-सवत् का इसमे कोई उल्लेख नही है। इससे विद्वानो की यह भी धारणा बनी है कि ऐसे सवत् वाले उल्लेख बाद मे जोडे गये हैं, अन्यथा उस प्रति मे भी होते। उनका यह भी कहना है कि डिगल ग्रन्थो मे ऐसे उल्लेख नही पाए जाते हैं। इस दूसरी दलील की तो कोई प्रामाणिकता नही हैं, क्योकि कवि तथा लिपिकार सदैव ऐसा करने मे स्वतन्त्र थे। प्रिथीराज जैसे पडित के लिए तो ऐसा करना स्वाभाविक भी था। पर तेस्सितोरी द्वारा अपने सपादन मे जिन प्रतियो के पाठान्तर उद्धृत किए गए हैं, उन सभी मे रचनाकाल विषयक वही छन्द है, जिसमे १६३७ विक्रम का उल्लेख है। इनमे से एक प्रति १६७३ सवत् की भी लिपिकृत है। इसलिए १६३७ को ही सही रचना सवत् माना जाना चाहिए। जब तक अन्य सवतो के विषय मे पुष्ट प्रमाण नही उपलब्ध हो जाता तब तक सुदूर गुजरात और मेवाड की रचना-सवतो को मान्यता नही दी जा सकती। बीकानेर राजवश के अपने ग्रन्थागार की प्रतियाँ निश्चय ही अधिक विश्वसनीय होनी चाहिए।

यह सब होते हुए भी रचना-सवत् मे कोई मामूली अतर कभी प्रमाणित भी हो जाए तो उससे काव्य के मूल्य मे कोई अन्तर आने वाला नही है। उसका महत्त्व तिथि की सुनिश्चितता तक ही सीमित है।

वेलि का छन्द

वेलि की रचना 'वलियो' नामक गीत छन्द मे ही की गई है। 'रघुवर जस प्रकास' के लेखक किसना आढा ने 'बडा साणोर' नामक गीत भेद के सात उपभेदो मे एक 'वेलियो साणोर' बताया है। दूसरे छ उपभेद सुद्ध साणोर, प्रहास साणोर, छोटो साणोर, सूहणो साणोर, पूणियो साणोर (जागडो) तथा सोरठियो साणोर है। 'वलियो साणोर' का लक्षण इस प्रकार दिया है—

मुण धुर तुक अठार मत, बीजी पनरह वेख।
तीजी सोळह चतुरथी, पनरह मत्ता पेख॥
सोळह पनरह अन दुहा, गुरु लघु अत वखाण।
कहै एम सुकवी सकळ, जिको वेलियो जाण॥

(गीत की पहली तुक मे १८ मात्रा, दूसरी म १५, तीसरी मे १६ तथा चौथी मे १५ हो और बाकी दूहो म १६-१५ के क्रम से हो और अन्त मे एक गुरु एक लघु हो—उसे वेलियो साणोर कहत है।)

इसके अतिरिक्त मिस्र वलियो का लक्षण पृथकत या दिया है—

समिळ वलियो सोहणो सज्ञ फिर खुडद समेळ।
मिस्र वेलियो कवि पुणै, भळ जागडो न भेळ॥

(वलियो, सोहणा खुडद साणोर—ये तीनो ही जिसमे इकट्ठे हो वह मिस्र वेलियो कहा जाता है। इनके साथ जागडो साणोर नही होना चाहिए।)

तेस्सितोरी ने वलियो छन्द की व्याख्या करते हुए उसके प्रथम चरण मे १८, तीसरे मे १६ तथा पहिले व चौथे मे १४ से १५ मात्रायें होने की बात कही है। इनम १४ भी सम्भव है। शायद वेलि के छन्दो को आधार मानकर ही तेस्सितोरी ने यह लक्षण दिया है। वेलि मे अनेक स्थानो पर मात्राएँ कम या अधिक है, तथा गुरु लघु का बधन भी नही रखा गया है। १८-१३-१६-१३ के लक्षण का एक छन्द निम्न प्रकार है —

कसतूरी गारि कपूर ईंट करि, नवै विहाणै नवी परि।
कुसुम कमळ दळ माळ अलकित, हरि क्रीडै तिणि धवळहरि॥१६२॥

१८-१५-१६-१५ का एक अन्य छन्द देखिए—

आगै जाइ आलि केलिग्रिह अतरि, करि अजण मारजण करेण।
सज वियाजि खीरसागर मजि, फूल वियाजि सजे तसु फेण॥१५६॥

उपर्युक्त प्रथम उदाहरण 'खुडद साणोर' के लक्षणो के अनुरूप है तथा बाद का

वेलियो के। अत कवि ने दोनो ही गीत छन्दो का निर्बाध रूप म प्रयोग किया है। खुडद साणोर मे अन्त मे लघु-लघु या लघु-गुरु का प्रावधान है। प्रिथीराज न प्राय दोनो लघु ही काम मे लिये हैं। खुडद साणोर के इस भेद को 'हसगत' भी कहते हैं। प्रिथीराज का भावुक हृदय हस की गति को ही अपने छन्द मे समेटना चाहता था, इसलिए उन्होने इसी हसगमन की चालवाले छन्द को चुना। इसमे 'मिश्र वलियो' की सम्भावना भी है क्योकि सुहणो साणोर का भी मेल दिखाई देता है, जिसमे १८-१४-१६-१४ के क्रम से मात्रा-विधान निर्धारित है।

कथा-स्रोत और कथानक

वेलि के कथानक का स्रोत 'भागवत पुराण' ही है क्योकि कवि ने स्वय ऐसा उल्लेख किया है—'वल्ली तसु बीज भागवत वायो' ॥२९१॥ 'हरिवश तथा 'विष्णु पुराण' आदि ग्रन्थो मे भी कृष्ण-रुक्मिणी विवाह प्रसग की कथा दी गई है। पर 'भागवत' (अध्याय ५३ से अध्याय ५५ तक) मे यह सर्वाधिक विस्तार म उपलब्ध है। भागवत का वर्णन और घटना-क्रम भी 'वेलि' मे बहुत अधिक समानता रखते हैं। इसलिए वेलिकार क कथन पर विश्वास करते हुए कवि के कथानक को अन्यत्र ढूँढना निरर्थक है। लेकिन 'भागवत' का कथानक जहाँ 'गर्गसहिता' के वर्णन से साम्य रखता है, वही 'ब्रह्मवैवर्त्त पुराण' मे उसकी भिन्नता है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण म रुक्मि शिशुपाल को आमंत्रित कर लेता है और यादवो से युद्ध भी करता है पर उसकी सेना पलायन कर जाती है। तदनन्तर यादव साथ कृष्ण के साथ कुण्डिनपुर मे प्रवेश करते हैं और राजा भीष्मक विधिपूर्वक कन्या रुक्मिणी का विवाह कृष्ण के साथ सम्पन्न करते हैं। दहेज आदि देकर बारात विदा की जाती है। विवाहिता रुक्मिणी को लेकर ही यादव द्वारिका मे प्रवेश करते हैं। इस प्रकार इस पुराण मे रुक्मिणी का हरण न दिखाकर विवाह ही दिखाया गया है। इसमे यह भी बताया गया है कि गौतम पुत्र शतानन्द की सभा मे भीष्मक ने एक विप्रवन्द ब्राह्मण के हाथ द्वारिका मे राजा उग्रसेन क पास लग्न-पत्रिका भिजवा दी थी, जिसे पाकर वे बारात लेकर आ गए थे। इस ग्रन्थ मे रुक्मिणी के हरण की कथा एक प्रकार से असत्य हो जाती है। पर इसके विपरीत गर्गसहिता, हरिवश, विष्णु पुराण आदि मे भागवत की तरह ही हरण की कथा दी गई है। कथा के कुछ प्रसगो को छोडकर शेष सभी मुख्य अश ज्यों के त्यों वेलिकार ने अपनाए हैं। कुछ उक्तियाँ भी वैसे ही लेकर रख दी गई हैं। नख-शिख, श्रृंगार-वर्णन, युद्ध-वर्णन आदि मे भी पर्याप्त समानता है। पर ऐसा होते हुए भी वेलि की अपनी मौलिकता मे कोई व्याघात नही आ पाया है। वेलि और भागवत की समानता के अश उदाहरणस्वरूप देखे जा सकते है —

भागवत पुराण	वेलि
१ मा वीर भागमभिमर्शतु चैवा आराद्-गोमायुवन्मृगपतेर्बलिमम्बुजाक्ष —(भागवत पुराण १५-८२-३६)	मूझ सियाळ मिघ बळि प्रासै जो वीजौ परणै (५६)
२ स चाश्वै शैब्यसुग्रीवमेघपुष्प-बलाहकैं । युक्त रथमुपानीय तस्थौ प्राजलिरग्रत । —(भागवत पुराण १० ५३-५)	सुग्रीवसेन नै मेघपुहप समवेग वलाहक इसै वहन्ति (६८)
३ तमागत समाज्ञाय वैदर्भी हृष्ट-मानसा। न पश्यन्ती ब्राह्मणाय प्रियमन्यन्ननाम सा। —(भागवत पुराण १० ५३-३१)	वम्भण मिसि वन्दै हेतु सु वीजौ (७३)
४ यद्यदायुधमादत्त तत्सर्वं सोऽच्छिन्न द्हरि । —(भागवत पुराण १०-५४-२६)	अे अखियात जु आउधि आउध सजै रुकम हरि छेदै सोजि (१३३)

वलि का कथानक अति सक्षिप्त है। पर काव्योचित प्रसगो को कवि ने पर्याप्त विस्तार दे दिया है। कथानक स्थूल रूप स इस प्रकार है—

दक्षिण दिशा म विदर्भ नामक देश मे कुन्दनपुर नामक नगर था। वहाँ के राजा भीष्मक के पाँच पुत्र तथा छठी पुत्री थी। पुत्रा के नाम रुक्म, रुक्मबाहु, रुक्मालि, रुक्मकेश और रुक्मरथ थे तथा पुत्री का नाम रुक्मिणी था। रुक्मिणी लक्ष्मी का अवतार थी। वह अत्यन्त सुन्दर और स्त्रियोचित सभी लक्षणो स युक्त थी। (यहाँ कवि ने रुक्मिणी के शैशव, वय सधि और यौवन का विस्तृत वर्णन करते हुए नख शिख शृगार का भी वर्णन किया गया है।) रुक्मिणी न व्याकरण, पुराण, स्मृति, शास्त्र वेदादि का सम्यक् अध्ययन किया और चौदह विद्याओ तथा चौसठ कलाओ मे भी नैपुण्य प्राप्त किया। उसने वर प्राप्ति के लिए गौरी पूजन किया। राजा भीष्मक ने कृष्ण को सर्वथा उपयुक्त वर जान कर अपने परिजनो से विचार विमर्श किया। पर उसके बड़े पुत्र ने इसका विरोध किया। उसने कृष्ण को ग्वाला बताकर क्षत्रियो की तुलना मे अहीरो स विवाह सम्बन्ध स्थापित करने की निन्दा की। पुत्र द्वारा विरोध किए जाने पर राजा भी चुप हो गया। उसके पुत्र ने चन्देरी पुरी के राजा शिशुपाल को वर निश्चित करत हुए पुरोहित के हाथ उसको निमत्रण भिजवा दिया। निमत्रण पाकर शिशुपाल अनेक राजाओ की बारात बनाकर कुन्दनपुर आ गया। उसके स्वागत म कुन्दनपुर को खूब सजाया सँवारा गया।

रुक्मिणी यह सब देखकर बड़ी दुखी हुई, क्योकि उसने मन-ही-मन कृष्ण

का वरण कर लिया था। इस विकल अवस्था मे ही उसने गवाक्ष में से एक ब्राह्मण को राह चलते देखा। ब्राह्मण को सन्देश लेकर द्वारिका जाने की विनय करके उसे काजल-जल मे नख द्वारा लिखित सन्देश-पत्रिका दी। ब्राह्मण पत्रिका लेकर कुन्दनपुर से निकलते-निकलते साँझ हो जाने के कारण सो गया। प्रभात होने ही जब आँख खुली तो उसने अपने आपको द्वारिकापुरी म पाया। इस आश्चर्यजनक सत्य से चकित होता हुआ वह श्रीकृष्ण के अत पुर मे चला गया, जहाँ श्रीकृष्ण ने उसका बहुत सम्मान किया। ब्राह्मण द्वारा दी गई पत्रिका का प्रेम विह्वल अवस्था के कारण स्वय पढ सकने मे असमर्थ श्रीकृष्ण ने ब्राह्मण से ही उसे पढवाया। पत्र मे रुक्मिणी ने लिखा था कि यदि उसका विवाह किसी दूसरे से हो जाएगा तो वह ऐसा होगा मानो सिंह की बलि को गीदड खा गया। कपिला गाय कसाई को दे दी गई अथवा तुलसी चाण्डाल के हाथ पड गई। यदि कृष्ण के अतिरिक्त कोई दूसरा वर उसे विवाहेगा तो होमाग्नि मे जूठन डालने, शालिग्राम शूद्र के घर होने और वेद-मन्त्रो का म्लेच्छो द्वारा उच्चारण किए जाने के समान होगा। इसी प्रसग मे रुक्मिणी ने वराहावतार, कच्छपावतार, रामावतार आदि का स्मरण कराकर उसका उद्धार करने की बात कही है, और अब की बार भी वैसा ही करने का निवेदन भी। पत्रिका के अन्त मे, उसने विवाह से पूर्व अम्बिका पूजन के लिए शहर से बाहर जाने की बात कहकर सकेत-स्थल भी बता दिया है।

पत्र पढकर श्रीकृष्ण ब्राह्मण के साथ कुन्दनपुर गए। ब्राह्मण ने यह समाचार रुक्मिणी तक पहुँचाकर उसकी विकलता मिटाई। श्रीकृष्ण को रुक्मिणी हरण के लिए गया सुनकर श्री बलराम भी सेना सहित कुन्दनपुर पहुँच गये। उन दोनो को देखकर कुन्दनपुर के लोग बहुत प्रसन्न हुए। रुक्मिणी ने माता की आज्ञा लेकर अम्बिका के मन्दिर म दर्शनार्थ जाने के लिए शृगार प्रारम्भ किया। (यहाँ कवि ने पुन नख शिख पद्धति स रुक्मिणी क शृगार का वर्णन किया है।) भली प्रकार शृगार करके सखियो को साथ लिए हुए रुक्मिणी अगरक्षको के साथ अम्बिका के देवालय गई। उसने माता के दर्शन करके बडे भावपूर्वक कृष्ण को वर-रूप म प्राप्त करने की प्रार्थना की। उस समय जब वह देवालय मे बाहर निकली तो उसके अनिंद्य सौंदर्य को देखकर सभी सेना मूर्छित होकर प्रस्तरवत खडी हो गई। इसी उपयुक्त अवसर पर श्रीकृष्ण न रुक्मिणी को अपने रथ मे बैठाकर उसका हरण कर लिया। यह समाचार जानकर वीरो ने श्रीकृष्ण को ललकारा और घनघोर युद्ध प्रारम्भ किया। (यहाँ कवि ने डिंगल परम्परा मे युद्ध का विस्तृत वर्णन किया है।) लडाई मे यद्यपि प्रधान कार्य बलराम ने ही किया पर रुक्मिणी के भाई द्वारा वारम्बार विवश किए जाने पर श्रीकृष्ण ने उसके आधे केश उतार कर उसे विद्रूप कर दिया। रुक्मिणी का लिहाज करके

उसके प्राण हरण नही किए। बलराम ने श्रीकृष्ण की निन्दा की कि उसे अपने साले का इस प्रकार अपमान नहीं करना चाहिए था। इस पर श्रीकृष्ण ने उसके सिर पर हाथ रखकर उसे पुन रूप प्रदान किया।

इस प्रकार शत्रुओ पर विजय प्राप्त कर रुक्मिणी बलराम आदि के साथ श्रीकृष्ण ने द्वारिका म प्रवेश किया, जहाँ नगरवासियो न उनका बहुत स्वागत किया। उस समय द्वारिका को खूब सजाया गया। ज्योतिषी से विवाह का मुहूर्त पूछे जाने पर उसने कहा कि विवाह तो तभी हो गया था जब श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी का पाणिग्रहण किया था। पर विधिवत् विवाह पुन किया गया। विवाह सस्कारोपरात दम्पत्ति क शयन गृह के वर्णन, षड्ऋतु-वर्णन आदि के उपरान्त, जो पर्याप्त विस्तार स युक्त है, रुक्मिणी के गर्भ का प्रसग दिया गया है। प्रद्युम्न एव अनिरुद्ध के जन्म के प्रसग देकर काव्य की सुखद समाप्ति की गई है। तदनन्तर रुक्मिणी मगल क माहात्म्य का बखान तथा कवि का अपना वक्तव्य दकर ग्रथ सम्पूर्ण किया गया है।

रुक्मिणी-विवाह-काव्यो की परम्परा

यह प्रसिद्ध पौराणिक प्रसग कवियो का बडा प्रिय रहा है। सस्कृत काव्यो के समय से ही अनेकानेक कवियो ने इस विषय पर अपनी काव्य-कला का प्रदर्शन किया है। भट्ट मोरा कृत 'रुक्मिणी विवाह कौतुकम्' सस्कृत की एक उत्कृष्ट रचना है। राजस्थानी तथा हिन्दी की उपभाषाओ म जैन तथा वैष्णव कवियो ने इस प्रसग की अनेक रचनाएँ की हैं, जिनम स कुछ अधिक सुज्ञात नाम इस प्रकार है—

१ रुक्मिणी मगल (केसोराय)
२ रुक्मिणी मगल (विष्णुदास)
३ रुक्मिणी मगल (पद्माकर)
४ रुक्मिणी को ब्यावलो (सहसमल)
५ रुक्मिणी को ब्यावलो (सूरदास)
६ रुक्मिणी का ब्यावलो (पदम भगत)
७ रुक्मिणी हरण रास
८ रुक्मिणी परिणय (रघुराजसिंह)
९ रुक्मिणी हरण (विजैराम)
१० रुक्मिणी विजै ब्यावलो
११ रुक्मिणी सझाय (राजविजय)
१२ रुक्मिणी री सझाय (रूपविजय)
१३ रुक्मिणी री ढाळ (गुणसागर)

१४ कृष्ण-रुक्मिणी विवाह (अज्ञात)
१५ रुक्मिणी हरण (सायाँझूला)
१६ क्रिसनजी री वेल (करमसी साखळा)
१७ रुक्मिणी मगल (नन्ददास)
१८ गुणविजै व्याह (मुरारिदास)
१९ रुक्मिणी हरण (विट्ठलदास)
२०. रुखमणी मगळ (नरहरि)

अन्य अनेक ग्रन्थो मे भी कृष्ण-चरित के प्रसगो मे रुक्मिणी हरण की कथा दी हुई मिलती है।

पर यह सब होते हुए भी प्रत्यक काव्य उसके कवि की एक स्वतन्त्र रचना होती है, जिसम वह अपने अनुभवो, भावनाओं, कल्पनाओं और काव्य-कला के नैपुण्य का प्रदर्शन करता है। इस प्रकार सार्वजनीन होते हुए भी वह काव्य कवि के स्वय के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होता है। इस दृष्टि से प्रस्तुत रचना अपनी पूर्वगामी तथा समकालीन रचनाओ से सवथा भिन्न है। इसका यत्किचित् सादृश्य, करमसी साखला कृत 'क्रिसनजी री वेल' से अवश्य है। प्रिथीराज उक्त रचना से पर्याप्त रूप मे प्रभावित प्रतीत होत हैं। पर इमसे उनकी मौलिकता, वलि की महानता और प्रस्तुत काव्य की उत्कृष्टता पर कोई आँच नही आती।

प्रवन्ध-रचना के तत्त्व

वेलि भले ही एक लघु खड काव्य हो, पर उसमे प्रवन्धात्मकता का निर्वाह अवश्य हुआ है। इस रचना मे रुक्मिणी को ही प्रधान पात्र रखा गया है। कवि ने प्रारम्भ मे ही स्त्री की महिमा और उसके शृगार की प्रधानता बताकर इसे 'शृगार ग्रन्थ' की सज्ञा दी है—

सुखदेव व्यास जैदव सारिखा, सुकवि अनेक ते एक सम्थ।
श्री वरणण पहिलो कीजै तिणि, गूँथियै जेणि सिंगार ग्रन्थ॥

(शुकदेव, व्यास, जयदव सदृश अनेक कवि इस वात मे सहमत है कि जो शृगार ग्रन्थ की रचना करे, उस पहले स्त्री का ही वर्णन करना चाहिए।) और ऐसा प्रतिपादन स्वीकार करते हुए कवि ने स्त्री की महिमा का भी बखान किया है—

दस मास उघर धरि वळे वरस दस, जो इहाँ परिपाळै जिवडी।
पूत हेत पेखताँ पिता प्रति, वळी विसेखै मात वडी॥

(जो दस महीने उदर मे धारण करती है और फिर दस वरस तक जीव का पालन-पोषण करती है, पुत्र के प्रति इस प्रकार माता का स्नेह देखते हुए, पिता की तुलना मे उसका स्थान विशेष वडा है।)

इस प्रकार स्पष्ट शब्दो मे अपना मतव्य प्रकट करने पर प्रस्तुत शृगार ग्रन्थमे

रुक्मिणी की प्रधानता में कोई सन्देह नहीं रहना चाहिए। रुक्मिणी के जन्म, शैशव, शिक्षा, वयःसन्धि काल, यौवनावस्था, वर-प्राप्ति हेतु आराधना, कृष्ण को वर रूप में प्राप्त करने की चेष्टा, हरण, परिणय और सुखोपभोग के पश्चात् दाम्पत्य-जीवन की चरम परिणति के रूप में पुत्र-पौत्रादि के जन्म का वर्णन कर कवि ने एक प्रकार से रुक्मिणी के समस्त जीवन-व्यापी चरित्र को ही अपना विषय बना लिया है। पर अपने आराध्य देव कृष्ण की महिमा का प्रदर्शन उसका अभीष्ट होने के कारण रुक्मिणी के हरण को ही अधिक प्रधानता दी गई है। रुक्मिणी को रमा का अवतार बताकर उसे आराध्य की पत्नीत्व के महान् पद पर आसीन करने के लिए रुक्मिणी के अनिंद्य सौन्दर्य और सर्वगुणसम्पन्नता का अनेकशः वर्णन बहुत आवश्यक था। हरण की पात्र होने के कारण भी उसके सौन्दर्य की अलौकिकता, जिसके दृष्टिपात मात्र से समूची सेना हतप्रभ हो गई, वर्णनीय थी। कृष्ण के बल-पौरुष और भगवद्-स्वरूप का दिग्दर्शन कराने के लिए भी हरण के प्रसंग का वीरोचित वर्णन आवश्यक था। प्रबन्ध की सार्थकता के लिए युद्ध, प्रकृति वर्णन, प्रभात-सन्ध्यादि का वर्णन, नगर-शोभा-वर्णन तथा पुरवासियों के औत्सुक्य आदि का भी यथोचित समावेश किया गया है। प्रबन्ध परम्परा का निर्वाह करते हुए ईश-वन्दना, गुरु-वन्दना, पूर्ववर्ती कवियों का गुणानुवाद और अन्त में, माहात्म्य-वर्णन तथा कवि-कथन भी दिये गये हैं। सबसे अन्त में शृंगार ग्रन्थ की सार्थकता को पूर्ण रूप से सिद्ध करने के लिए विवाहित दम्पत्ति की रतिक्रीडा, षड्ऋतु विलास और नख-शिख वर्णन भी किया गया है। इस प्रकार प्रबन्ध-कौशल से गुंथा हुआ होकर प्रस्तुत ग्रन्थ एक उच्च कोटि की शृंगार-कृति बन गई है। कवि ने कोई भी ऐसा अवसर हाथ से नहीं जाने दिया है, जहाँ रुक्मिणी के शृंगार अथवा कृष्ण-रुक्मिणी के प्रेम, हास-विलास आदि की सम्भावना रही हो। एक सफल कवि के रूप में प्रिथीराज ने कथा की कड़ियों को सांकेतिक रूप में जोड़ते हुए प्रबन्ध शिल्प का भली भाँति निर्वाह भी किया है और अपने इष्ट देव तथा देवी की शृंगार-लीला का वर्णन करते हुए उनकी महिमा का बखान भी कर दिया है। इस प्रकार यह रचना एक भक्त और शृंगार रस के कवि की सफल कृति बन गई है।

शिल्प-विधान

शिल्प विधान में छन्द अपना विशिष्ट स्थान रखता है। 'वेलि' के मात्र ३०५ छन्दों की रचना होने तथा सर्गबद्ध भी न होने के कारण इसमें पृथक्-पृथक् छन्दों की न तो कोई आवश्यकता थी और न कवि ने ऐसा करना उचित ही समझा। सम्पूर्ण रचना एक ही छन्द—वेलियो में की गई है। अपभ्रंशकालीन छन्दों की एक बड़ी विशिष्टता यह बताई जाती है कि वे लघु तुकांत होते थे। प्रिथीराज ने भी इस विशिष्टता को रखने वाले छन्दों का चयन किया है। 'छोटा साणोर' गीत के

अनेक भेदो मे से 'हसगम' नामक यह भेद इस कोटि के शृगार ग्रन्थ के सर्वथा उपयुक्त बन पड़ा है। बहुत कम ऐसे स्थल रहे हैं, जिनमे गुरु गुरान्त शब्द आये हैं। इस छन्द मे १८-१५-१६-१५ मात्राओ तथा समपदो के अन्त मे लघु गुरान्त का विधान है, जिसका प्राय निर्वाह किया गया है। पर कहीं-कहीं समचरणों मे १५ के स्थान पर तेरह मात्राएँ भी रखी गई हैं। इस की भाँति लघु-लघु चरणो वाला यह छन्द प्रिथीराज की काव्योचित सूझ-बूझ का परिचायक है।

छन्दो को गूंथने मे शब्दो का जो सागीतिक सौन्दर्य आवश्यक होता है, उसमें प्रिथीराज को विशेष कौशल प्राप्त था। सम्भवत वे स्वय भी सगीत-शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। उनके द्वारा रचित 'नृत्याष्टक' नामक रचना मे उनके इस ज्ञान का आभास मिलता है। वैसे भी एक भावुक हृदय के उच्च कोटि के कवि के नाते उनके शब्द-चयन की सामर्थ्य निर्विवाद है। प्रिथीराज उन सौभाग्यशाली कवियों मे थे, जिन्हे डिंगल काव्यो के पारम्परिक ज्ञान के साथ ही शास्त्रीय ज्ञान का लाभ भी मिला था। एक उच्चकुलीन राजपूत परिवार मे जन्म लेने के कारण भी उन्हे न केवल सस्कृत, व्रज, राजस्थानी आदि भाषाओं के ग्रन्थों के सम्यक् अध्ययन का अवसर सुलभ हुआ, अपितु उनमे पाण्डित्य और नैपुण्य प्राप्त करने के सुयोग भी मिले। उनकी स्वाभाविक प्रतिभा को इन सुयोगो मे मुखरित होने का शुभअवसर प्राप्त हुआ। इसलिए प्रिथीराज की रचनाओं मे सस्कृतगर्भित शब्दावली के साथ ही, डिंगल के ठेठ शब्दो और अन्य अनेक विद्याओ तथा कलाओं के पारिभाषिक शब्द भी यथास्थल प्रयुक्त हुए हैं। सस्कृत के तत्सम शब्दो का तद्भवीकरण भी उनके कुशल हाथो मे राजस्थानी की प्रकृति मे सम्यक् प्रकार स्थानान्तरित हो पाया है। यद्यपि लोक-कहावतो तथा मुहावरो का भी यत्र-तत्र प्रयोग किया गया है, पर वेलि की भाषा मुख्यत पाण्डित्यपूर्ण ही कही जायेगी। अपनी विषय-वस्तु को कवि ने जिस गरिमामय धरातल से उठाया है, उसी के अनुरूप उसका शब्द-चयन भी किया है। अपने आराध्य के गुणानुवाद के इस प्रसग मे एक भक्त कवि किसी भी प्रकार का भाषा शैथिल्य अथवा वैपरीत्य दिखा भी नहीं सकता था।

राजस्थानी रचनाकारो ने 'वेणसगाई' को अपनी कृतियो मे जो महत्त्व दिया है और उससे काव्य मे जो निखार आ जाता है, उसके प्रति भी प्रिथीराज जागरूक रहे हैं। इस महत्त्वपूर्ण विषय के निर्वाह मे कहीं स्खलन प्रतीत नहीं होता। इस शब्दालकार की छटा अनेक स्थानो पर अधिक दर्शनीय बन पड़ी है, यथा—

'जिणि सेस सहस फण फणि फणि बि बि जीह।
जीह जीह नवनवौ जस॥'

विशुद्ध सस्कृत मे होते हुए भी एक छन्द मे भाषा-माधुर्य देखने योग्य है। साथ ही, प्रश्नकर्ता का औत्सुक्य एव मतव्य भी दर्शनीय है, यथा—

कस्मात्, कस्मिन्, किल मित्र विमर्श, केन कार्य, परियासि क्षुप्र ।
ब्रूहि जनेन येन भो ब्राह्मण, पुरतो मे प्रेषितम् पत्र ॥

स्थान, काल, पात्र और प्रसग की अनुरूपता शब्द-सयोजन की एक बडी कसौटी होनी चाहिए। युद्ध-प्रसग मे वर्षाकाल के रूपक के शब्द-चयन की सारगर्भिता और प्रभावोत्पादकता द्रष्टव्य है—

कळकळिया कुत किरण कळि ऊकळि, वरजित विसिख विवरजित वाउ ।
धडि-धडि धवकि धार धाराजळ, सिहरि-सिहरि समखै सीळाउ ॥

डिंगल रचनाओ मे अरबी-फारसी शब्दो का बाहुल्य जितना उत्तर-मुगलकाल मे प्राप्त है, उतना प्रारम्भिक काल मे नही। यद्यपि विक्रम की सत्रहवी सदी तक भी ऐसे बहुसख्यक शब्द साहित्य मे प्रवेश पा चुके थे, पर सोलहवी सदी तक के ग्रन्थो मे वह अनुपात इतना अधिक नही था। इस कारण के अतिरिक्त प्रिथीराज का भारतीय वाङ्मय के प्रति रुझान भी विशुद्ध भारतीय शब्दावली के अधिक प्रयोग के लिए उत्तरदायी था। इसलिए वेलि मे अरबी फारसी के शब्द अपेक्षाकृत अत्यल्प ही हैं। जो है, वे भी अधिकतर युद्ध के प्रसग से सबधित हैं। विदेशी आक्रामको से सर्वप्रथम लोहा लेनेवाले राजस्थान के क्षत्रिय समाज पर शत्रु के शस्त्रास्त्रो तथा युद्ध-कौशल की छाप पडनी स्वाभाविक ही थी। ऐसे कुछ शब्द इस प्रकार है सिलह, केकाणा, अलल, नरनाव, लगर, रुम्र, दूबै आदि। अरबी-फारसी शब्दो के ऐसे ही सीमित प्रयोग की प्रवृत्ति सोलहवी तथा प्रारम्भिक सत्रहवी सदी के अन्य राजस्थानी ग्रन्थो मे भी मिलती है। विशुद्ध सस्कृत शब्दो (तत्सम) के बाहुल्य के द्योतक निम्न शब्द लिये जा सकते है—

आकर्षण, वशीकरण, उन्मादन, पगु, मूर्छित, त्रिभुवन, बलिबध, पिंड, आकृति, पत्र, वर्जित, विवर्जित आदि। वलि मे लाक्षणिक और व्यजक शब्दो का भी बाहुल्य है। लक्षणा एव शब्दगत तथा अर्थगत व्यजना-शक्ति के कतिपय उदाहरण इस प्रकार है —

१ पूजा मिसि आविसि पुरखोतम, अम्बिकालय नयर आरात (६६)—हरण के लिए उपयुक्त अवसर व स्थान व्यजित किया गया है। (आर्थी व्यजना)

२ घर गिरिपुर साम्हा धावन्ति (६८), रथ की तेज चाल लक्षित है।

३ सैसव तनि सुखपति (१५), शैशव के सुषुप्तावस्था मे होने अर्थात् व्यतीत हो जाने का अर्थ लक्षित है।

४ वेस सधि सुहिणा सु वरि (१५)। वय सन्धि के अनिर्वचनीय औत्सुक्य, रोमाचक स्फुरण, मधुर पीडा, अस्पष्ट तद्रिल अवस्था आदि की भावनाओ को व्यक्त करने के लिए उसे स्वप्निल स्थिति से उपमित कर गूढतम अर्थों को व्यजित किया गया है।

शब्दालकारा मे 'वैण सगाई' के अतिरिक्त भी आनुप्रासिक छटा की भरमार है—

'वदु विलखो वीछडती वाळा वाळ सघाती वाळपण' (१७), यहाँ 'व' वर्ण की आवृत्ति में 'श्रुत्यनुप्रास' द्रष्टव्य है। इसी प्रकार—'लाजवती अगि एह लाज विधि, लाज करती आवै लाज' (१८)। यहाँ 'लाज' शब्द की आवृत्ति से शब्द के साथ अर्थ-गाभीर्य भी उत्कृष्ट कोटि का बन पडा है। अर्थालकारो मे कवि को उपमा तथा रूपक विशेष प्रिय हैं, जिनका प्रचुर प्रयोग हरेक वर्णन मे किया गया है। उत्प्रेक्षा और वक्रोक्ति की भी बहुलता है। शास्त्रीय विधि से रचित इस काव्य मे से अन्य अनेक अर्थालकार सरलता से उद्धृत किये जा सकते हैं।

भाव-सृष्टि

उत्तरकालीन सस्कृत काव्यो के रूढिग्रस्त हो जाने के कारण उनमे रूढियो, परम्पराओ और कविसमयो की पूर्ति से जो एक प्रकार की नीरसता आने लगी थी, उससे एक सीमा तक प्रिथीराज का काव्य भी अछूता नही रहा है। वेलि का प्रकृति-वर्णन, ऋतु विलास और युद्ध-वर्णन एक सीमा तक उन परम्पराओ से जकडा हुआ है। वहाँ भाव ससार गौण होकर रूढ परिगणन मे फँस गया है। पात्रो का वैयक्तिक हर्ष-शोक इस प्रकार के वर्णनो मे मुखर हो भी नही सकता। पर जहाँ-जहाँ कृष्ण और रुक्मिणी के हृदयो को स्पर्श करनेवाले उद्गार हैं, वहाँ-वहाँ भाव-सृष्टि की मधुरिमा और गरिमा आकर्षित करती है। 'केलि क्रीडा' के वर्णन मे भी कवि का मन रमा है, जिससे प्रथम मिलन के लिए जाती हुई कुलवधू की विकलता, सकोच, आशका, हर्ष आदि सश्लिष्ट भावो की अभिव्यक्ति तथा रत्युपरान्त की दैहिक और मानसिक स्थिति का बडा सजीव वर्णन बन पडा है। कृष्ण का सदेश लेकर आनेवाले ब्राह्मण को दूर से देखते समय की व्यग्रता तथा कृष्ण द्वारा रुक्मिणी का पत्र न पढ पाने की रोमाचकता आदि प्रसग भी भाव-सृजन के सक्षम दृष्टान्त हैं। मिलन-पूर्व की सन्ध्या का वर्णन करते हुए कवि ने बडे सहज भाव से रुक्मिणी के हृदय का सकोच और मिलन-समय की सुखद अनुभूति का आभास साध्यकालीन दृश्यावलि के चयन मे व्यक्त कर दिया है—

सकुडित समसमा सध्या समयै, रतिवछिति रुखमणि रमणि।
पथिक वधू द्रिठि, पख पखियाँ, कमळ पत्र, सूरिज किरणि॥

यहाँ रति के लिए उत्सुक रुक्मिणी के हृदय का सकोच—सिमटती हुई सध्या, प्रतीक्षारत पथिक वधू की दृष्टि, घोसलो म लौटते पक्षियो के पख, बन्द होते कमल दल और अस्त होती हुई सूर्य-किरणो से उपमित किया गया है। इन सभी उपमानो मे मिलनोत्सुक वधू के हृदय का भाव साम्य खूब फबता है। प्रतीक्षारत वियोगिनी, सुखद रात्रि-विश्राम की कल्पना लिये हुए पछी, अपने ही हृदय की गहराइयो में मुँदता हुआ कमल और मिलन-रात्रि के लिए मार्ग प्रशस्त करती सूर्य-किरणें एक अद्भुत और सश्लिष्ट सामजस्य की सृष्टि करते हैं। ऐसे ही वे स्थल हैं, जहाँ

प्रिथीराज एक महान कवि के रूप मे गरिमामडित होकर प्रतिभासित होते हैं।

रस-निरूपण

काव्य का प्रत्येक वर्णन तदनुरूप रस-निष्पत्ति करने मे सक्षम हो तभी उसकी सार्थकता है। कहना न होगा कि वेलि मे ऐसे स्थल अधिक नही है। वेलि यथार्थत एक शृगार-काव्य है। इसलिए प्रेम-प्रसगो मे ही शृगार रस के विभिन्न भावानुभावो के माध्यम से रस-सृष्टि सफल हुई है। शृगार के अतिरिक्त प्रसग बहुत कम है और जो है भी, वे परम्परागत वर्णनो से लदे हुए हैं। मुख्य रूप से ऐसे इतर प्रसग दो ही है, जिनका पर्याप्त विशद वर्णन किया गया है। एक तो है युद्ध-वर्णन और दूसरा प्रकृति-वर्णन। प्रकृति-वर्णन भी शृगाराश्रित होने से उसमे शृगार रस की सृष्टि ही अभीष्ट है। रति क्रीडा, नख-शिख तथा ऐसे ही अवान्तर प्रसग भी शृगार सम्बन्धी ही है। यद्यपि प्रिथीराज ने अपने प्रारम्भिक कथन में पुरुष की तुलना मे नारी के त्याग की सराहना करते हुए उसकी महानता का बखान तो किया है, पर रुक्मिणी के रूप में नारी का वर्णन केवल उसके दैहिक आकर्षण का ही है। उसके शील, समर्पण आदि गुणों की यत्किंचित् झलक ही दिखाई गई है। रुक्मिणी को लक्ष्मी रूप मे मानते हुए भी कृष्ण के प्रति उसका समर्पण और अनन्य प्रेम-भक्ति की भावना ही प्रतिपाद्य विषय बन पाये है। इसलिए शृगार के अतिरिक्त अन्य रसो का निरूपण वेलि मे नही खोजा जाना चाहिए। कवि के लिए अन्य रस अभिप्रेत भी नही है।

युद्ध-वर्णन करते हुए प्रिथीराज अपने उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षादि अलकारो का मोह नही त्याग पाए है। वर्षा के साग रूपक द्वारा युद्ध का औपचारिक वर्णन मात्रा सम्भव हुआ है—

> कापिया उर कापरा असुभकारियौ, गाजते नीसाणे गडडै।
> ऊजळिया धारा ऊवडियौ, परनाळे जळ रुहिर पडै॥

(बादल की गरज सुनकर जैसे कायर-हृदय लोग डरते है, उसी प्रकार युद्ध के नगाडो की गम्भीर ध्वनि से भी वे डर रहे हैं। जैसे वर्षा मे उज्ज्वल जल-धाराओ से बरसता हुआ जल प्रणाल-मार्ग से नीचे पडता है, वैसे ही उज्ज्वल खड्ग-धाराओं से रुधिर गिर रहा है।)

वर्षा के इस रूपक को कवि ने कृषि-कर्म से सयुक्त कर खेत जोतने, बोने, फसल उगने, काटने और सग्रह करने तक की क्रियाओं को रूपकबद्ध कर दिया है। इस प्रकार परम्परागत होते हुए भी युद्ध का वर्णन वर्षा और कृषि के साथ तद्-रूप बना दिया गया है। युद्ध और वर्षा एव कृषि, दोनो ही पक्ष राजस्थान के अपने एव प्रिय विषय रहे हैं। कहना न होगा कि युद्धो के इस प्रकार के रूपकबद्ध वर्णन डिंगल कवियो को अत्यन्त प्रिय रहे हैं। इसी वर्णन मे आगे जाकर दो-

तीन छन्दो मे लोहार का रूपक भी दिया गया है। पर ऐसे रूपको से हट कर जहाँ भी कवि ने स्वाभाविक उक्ति कही है, वहाँ वह सराहनीय बन पडी है। रुक्मिणी का यह कथन उदाहरण है—"अबळा लेइ घणी भुई आयो, आयो हूँ पग माडि अहीर।" (१३०)—(अबला को लेकर तू बहुत दूर भाग आया है, अब मैं आ गया हूँ, हे अहीर, सामने आ।)

प्रकृति-वर्णन प्राय रूढिग्रस्त ही है। प्रभात मे शशि का स्तेज होना, शख-भेर आदि का शब्दित होना, रात्रि मे मिलने वालो का विछोह होना और दिन मे मिलनेवालो का मिलन होना—जैसे सपाट वर्णन मात्र हैं। इसी प्रकार षड्ऋतु के प्रसग मे भी पारपरिकता ही का वर्णन है। वसत ऋतु का एक पृथक् वर्णन सगीत की महफिल के रूपक का है और ऋतुराज तथा शासक का साग रूपक भी उसके साथ ही है। दक्षिण पवन का उन्मत्त पुरुष का रूपक, कवि की कल्पना-शक्ति और सूक्ष्म अध्ययन का अच्छा परिचायक है। यदि रूपको का ऐसा बेहद मोह न होता तो प्रिथीराज का काव्य अधिक भाव-प्रवण हो सकता था। किन्तु इन अलकृत वर्णनो मे भी उनके कवि हृदय ने उपयुक्त अवसर हाथ से जाने नही दिए है। शरद के वर्णन मे, घरो मे कार्तिक मास मे जलाए गए दीपको की बाहर झलकती आभा की उपमा मन मे लजाती हुई सुहागिन स्त्रियो के मुखो से देकर, बडी भाव-प्रवणता दिखाई है—

दीधा मणि मँदिरे कातिग रे दीपक, सुनी समाणियाँ माँहि सुख।
भीतर थका बाहर इम भासै, मनि लाजती सुहाग मुख॥

इसी प्रकार, हेमत मे शीतातिशय के कारण नर और नारी के आलिंगनबद्ध होने का वर्णन भी है—

उळझाया तन-मन आप-आप मे, विहत भीत रुक्मिणी वरि।
वाणि अरथ जिम सकति सकतिवत, पुहप अध गुण गुणी परि॥

(रुक्मिणी और कृष्ण शीत को दूर करने के लिए अपने तन और मन उलझा कर इस प्रकार एकाकार हो गये मानो वाणी और अर्थ, शक्ति और शक्तिवत, पुष्प और गध तथा गुण और गुणी एकीकृत भाव मे स्थित हो।)

सुरतात की छवि के ये दो छन्द प्रिथीराज जैसे रसिक की कलम से ही सम्भव थे—

श्रीवदन पीतता चित व्याकुलता, हिये धगधगी स्वेद हुइ।
धरि चख लाज पगे नेउर धुनि, करे निवारण कठ कुह॥

वदन मे पीलापन, चित्त मे व्याकुलता, रतिश्रमजन्य हृदय की धडकन व स्वेद, नेत्रो मे लज्जा, नुपूर ध्वनि और कठो के मधुर शब्दो का निवारण—रति क्लाता रमणी का बडा स्वाभाविक चित्रण है।

तिणि ताळि सखी गळि स्यामा ते ही, मिळी भ्रमर भारा जु महि।
वळि ऊभि थई घणा घानि वळ, लता वेळि अवलंब लहि॥

(भ्रमरों के भार से भूमि पर पड़ी बेल को जिस प्रकार कदली-स्तम्भ के सहारे टेढ़ी मेढ़ी करके ऊपर चढ़ाया जाता है उसी प्रकार कृष्ण रूपी भ्रमर के रति क्रीडा रूपी भार से शय्या रूपी भूमि पर शिथिल पड़ी रुक्मिणी रूपी बेलि को सखी-रूपी कदली स्तम्भ के सहारे बल खाती हुई देहयष्टि से खड़ा किया गया।)

रस वर्णन में भ्रमर, बल्ली, शय्या-भूमि आदि के उपमानों के साथ रतिक्लान्ता रुक्मिणी के शिथिल अंगों का लचकना, अर्थ की गरिमा को प्रकट करता है।

नख शिख वर्णनों में भी इस प्रकार की कमनीयता के कई स्थल हैं। मदनों के भीतरी भागों में जलती हुई दीपमाला का बाहर प्रस्फुटित होता प्रकाश कवि को बड़ा प्रिय है। रुक्मिणी के नील कौशेय वसन में से झाँकते हुए रत्नजटित आभूषणों की द्युति को कामदेव की दीपमाला के प्रकाश से उपमित किया गया है—

अतर नीलंबर अवल आभरण, अगि-अगि नग-नग उदित।
जाणे सदनि सदनि मझोई, मदन दीपमाळा मुदित॥

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि कितना भी भाव प्रवण कवि क्यों न हो, उसे अपनी परम्परा और समसामयिकता से भी जुड़ा रहना पड़ता है। इसलिए वेलि के सभी वर्णनों में रस निष्पत्ति की खोज करते समय इन तथ्यों को भी ध्यान में रखना होगा।

काव्य-रूढ़ियाँ

किसी भी कवि के लिए, चाहे वह कितना भी प्रतिभाशाली क्यों न हो, अपनी परम्पराओं से नितान्त पार्थक्य रखना संभव नहीं, पर जब वह परपरागत कवि-समयों में अपने आपको जकड़ लेता है तो उसकी रचना प्राणहीन हो जाती है। अधिकांश रीतिकालीन कवियों को इन्हीं काव्य रूढ़ियों ने उच्च कोटि के कवित्व से वंचित रखा था। इस दृष्टिकोण से वेलि में काव्य रूढ़ियों को खोजना इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि ऐसा करने से प्रिथीराज की मौलिकता को अधिक स्पष्ट किया जा सकेगा। यद्यपि काव्य रूढ़ियों की यह खोज इतनी सरल नहीं है, पर मोटे तौर पर कुछ रूढ़ प्रयोगों का उल्लेख किया जा सकता है मानसरोवर में हंस-क्रीडा, बत्तीस लक्षण युक्त स्त्री, तारों में चन्द्रमा की तरह सखियों में राजकुमारी, नयन-कमल, कोकिल-कंठ, भ्रमर रूपी भौंहें, दीप नासिका, मुख चन्द्र, कुच-कुम्भस्थल, करभ जंघ, वर प्राप्ति के लिए गौरी-पूजा, प्रोळि पर तोरण, नगाड़ों की घनगर्जना, काजल मसि से नख द्वारा पत्र-लेखन, जालियों में से पथिकों को देखना, सरोवरों पर पनिहारिनों का समूह, घर घर में यज्ञ, प्रत्येक मार्ग में आम्र-

वृक्ष, और प्रत्येक आम्र मे कोकिल कूजन, स्वप्न या जागृति के भ्रम का आभास, अवतारो द्वारा उद्धार के वर्णन, पूजा के लिए देवी के मंदिर मे जाना, चलदल की तरह चित्त का कांपना, नख-शिख शृगार (इनमे अनेक रूढिया का समावेश है), आभूषणो से युक्त सुन्दरी की कवचयुक्त योद्धा से उपमा, पहाडो की तरह बडे काले हाथी, हाथियो की मदगलित चाल, सौन्दर्य को देखकर लोगो का मूर्छित होना, आदि।

ऐसी शताधिक काव्य-रूढियाँ वेलि मे है। पर कवि का कौशल इसी मे है कि उसने रूढियो को किस नवीनता के साथ प्रयुक्त किया है।

कवि की बहुज्ञता

प्रिथीराज ने स्वय उचित गर्व के साथ कहा है कि उसके काव्य का अर्थ करने के लिए सस्कृत और प्राकृत भाषाओ, ज्योतिष, वैद्यक, योग, पुराण, सगीत, तर्क-शास्त्र आदि विद्याओ के साथ-साथ चारण, भाट आदि कवियो के परम्परागत काव्य-कौशल की जानकारी भी अपेक्षित है—

ज्योतिषी, वैद, पौराणिक, जोगी, सगीती, तारकिक सहि।
चारण, भाट, सुकवि भाखाचत्र, करि एकठा तो अरथ कहि॥

इस उक्ति के लिए प्रमाण रूप मे वेलि के अनेक छन्द उद्धृत किए जा सकते है, जिनमे कवि ने अपने तत्तद्विषयक ज्ञान का परिचय दिया है। भागवत आदि पुराणो के अध्ययन से वेलि की कथा ली गई है और अवतारो आदि के वर्णन भी पौराणिक ज्ञान के साक्षी है।

भारतीय वाङ्मय के सम्यक् अध्ययन के बिना ऐसा उच्चस्तरीय शास्त्र-सम्मत वर्णन असम्भव है। इसलिए सस्कृत आदि के काव्यो का अध्ययन कवि ने अवश्य किया होगा, यह मानना पडता है। लोकाचार और सभ्रान्त परिवारो के शिष्टाचार की छाप भी स्थान-स्थान पर उपलब्ध है। स्वय एक उच्चकुलीन क्षत्रिय होने के कारण अनेक युद्धो मे कवि ने भाग लिया था, इसलिए युद्ध का उसका वर्णन भी तथ्यपूर्ण और स्वाभाविक है। वैवाहिक सस्कार-वर्णन मे भी लोकाचार का ज्ञान प्रदर्शित है। ऋतुराज की महफिल मे सगीत का, वसत के राजा रूप मे राजकीय शासन का, प्रकृति एव ऋतु-वर्णन मे वनस्पति एव प्रकृति-विज्ञान का तथा माहात्म्य-वर्णन मे आयुर्वेद, तत्र-मत्र, ज्योतिष, योग, भक्ति आदि के ज्ञान का परिचय मिलता है। प्रिथीराज की बहुज्ञता और नाना भाँति की विद्वत्ता के बहुसख्यक स्थल सरलता से खोजे जा सकते है। वास्तव मे इसके सास्कृतिक पक्ष का सबल करनेवाले ये वर्णन वेलि के महत्त्व को द्विगुणित कर देते हैं।

वेलि की विशेषता

वेलि की विशेषता न तो उसके कथानक में है और न रूढ़िगत वर्णनों में। भक्ति की महिमा भी कथा-भाग में बाद के छन्दों में ही बखानी गई है। मध्यकालीन कवियों के प्रिय 'वीर रस' का भी इसमें अभाव ही है। पर एक शृंगार-काव्य के रूप में, और वह भी उच्च स्तरीय शिष्ट-शृंगार, जो देव-प्रसंग में अधिक पवित्र और शोभा-गरिमा से युक्त हो गया है, वेलि अपने युग की अद्वितीय रचना कही जानी चाहिए। एक छोटा-सा खण्ड-काव्य होने पर भी इसमें मध्यकालीन समाज, संस्कृति, लोकाचार और शिष्टाचार की बहुमूल्य सामग्री है। इसके सरस प्रसंगों में एक भावुक और कल्पना में धनी चतुर रचनाकार का कौशल झलकता है। रूढ़ियों को भी नए आवरण और साज-सज्जा में प्रस्तुत करते हुए कवि ने बहु सख्यक मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। अर्थगाम्भीर्य को दरसाने वाली आर्थी व्यंजना से ओत-प्रोत उक्तियों ने वेलि को अपने समय की उत्कृष्टतम रचना बना दिया है। वेलि की भाषा में डिंगल के ओज और माधुर्य के साथ-साथ संस्कृत के तत्सम और तद्भव तथा देशज शब्दों की स्वाभाविकता दर्शनीय है। ऐसी भाषा प्रिथीराज के अतिरिक्त कोई अन्य राजस्थानी कवि नहीं प्रस्तुत कर सका। इन्हीं विशेषताओं के कारण युग के सभी सृजनधर्मा कवियों तथा शीर्षस्थ आलोचकों ने वेलि की प्रशंसा की है।

वेलि की टीकाएँ और प्रशस्तियाँ

समूचे राजस्थानी वाङ्मय मे सभवत प्रिथीराज की वेलि ही एकमात्र ऐसी रचना है, जिसकी इतनी अधिक टीकाएँ हुई हैं और जिसे साहित्यकारो तथा अन्यान्य प्रतिष्ठित व्यक्तियो द्वारा इतनी प्रशस्तियो से विभूषित किया गया है। यहाँ हम उन सबकी प्रासगिक चर्चा करना चाहेंगे।

टीकाएँ (ढूंढाडी टीका)

कहा जाता है कि ढूँढाडी टीका के नाम से जो रचना ज्ञात है, वह बारठ लाखा की लिखी हुई है और यही 'वेलि' की सर्वप्रथम टीका भी है। विद्वानो ने इसका रचनाकाल सवत् १६७३ माना है और इसकी भाषा को पूर्वी राजस्थानी (ढूँढाडी) का रूप बताया है। लाखा अकबर के सन्निकट रहे माने जाते हैं और प्रामाणिक इतिहासो मे भी इनके सम्बन्ध मे प्रसग उपलब्ध हैं। इस दृष्टि से लाखा प्रिथीराज से आयु मे कुछ बडे ही होने चाहिए। प्रिथीराज का देहान्त सवत् १६५७ मे माना जाता है, जब वे ५०-५१ वर्ष के थे। इस प्रकार, यह टीका प्रिथीराज की मृत्यु के १६ वर्ष पश्चात् लिखी जानी चाहिए। यदि उस समय प्रिथीराज जीवित रहते तो उनकी आयु ६६ वर्ष की होती। लाखा की आयु भी इससे अधिक ही रही होगी। उतनी बढी हुई आयु मे टीका लिखने की बात कम समझ मे आती है, यद्यपि असम्भव तो नही कहा जा सकती। वेलि की रचना भी सवत् १६३७ से १६४४ के बीच मे मानी जाती है, अत लगभग १५-२० वर्ष बाद उसकी टीका होना भी विचारणीय है। यह भी सम्भव है कि यह टीका का रचनाकाल न होकर उसका लिपिकाल ही रहा हो। जहाँ तक टीका के कर्ता का प्रश्न है, वह टीका के मगलाचरण मे दिए गए निम्नलिखित सस्कृत श्लोको मे निश्चित ही समझा जा सकता है—

ध्यात्वा श्री गुरुपाद पद्मयुगल, श्री मन्मुरारे पदा।
यत्या प्रारभ्यते जन प्रियकरी टीका लाखाख्य कवि ॥
नत्वा कवीन्द्रान् सर्वज्ञान्, प्रार्थना सिद्धिदायकान्।
लाखाख्येनापि सुधिया वेल्लि टीका प्रतन्यते॥

लाखा की यह टीका गद्य है, जिसमे पूर्वी राजस्थानी की 'का' विभक्ति का प्रयोग किया गया है। जहाँ तक सहायक क्रिया 'छै' का प्रश्न है और जो 'ढूंढाड़ी' की अपनी विशेषता बन कर बची रह गई है। यह ध्यान देने योग्य है कि 'छै' का प्रयोग समान रूप मे समूचे प्राचीन गद्य मे होता आया है। व्रजभाषा के 'टीका गद्य' का भी प्रभाव इस पर है, *यथा 'तावो' जो 'तीको' या 'तोरो' 'तिणरो' के स्थान पर* प्रयुक्त हुआ है। डा० तेस्सितोरी ने एक और टीका का उल्लेख किया है, जो पश्चिमी मारवाडी मे लिखी गई थी और जिसकी वे लाखा द्वारा निर्मित होने की सम्भावना प्रकट करते हैं। उनका यह भी मानना है कि ये राजस्थानी टीकाएँ प्रिथीराज के समकालीन रही हो सकती हैं।

सुबोध मजरी टीका

यह सस्कृत टीका जैनाचार्य पद्मसुन्दर के शिष्य वाचक सारग ने वि० सवत् १६७८ में पालनपुर (गुजरात) मे लिखी थी। टीकाकार सारग ने यह दावा किया है कि बारठ लाखा की टीका 'बालावबोध' मात्र है। उसमें अर्थोक्ति-पटुत्व का अभाव है। इसीलिए यह सस्कृत टीका की जा रही है। सारग के वे सस्कृत श्लोक निम्न प्रकार हैं—

> लाक्षाभिधेन भाषाया चतुरेण विपश्चिता।
> चारणेन कृतो वालावबोधोऽर्थ सुलब्धये॥
> पर न तादृगर्थोक्ति-पटुत्व वितनोत्ययम्।
> तेन सस्कृत-वाग्-युक्ता टीकामेना करोम्यहम्॥

वनमाली बालवबोध

यह टीका खरतरगच्छीय समयसुन्दर के शिष्य हर्षनन्द के शिष्य श्री जयकीर्ति द्वारा राजस्थानी गद्य मे लिखी गई थी। इसका काल सूचक छन्द इस प्रकार है—

> सह सोलह छासीयइ वरस मगसिर वर मासइ।
> वीकानयरि महाराय राजि सुरिजसिंह हरमइ॥

सवत् १६८६ मे बीकानेर मे ही इसकी रचना की गई। जयकीर्ति ने अपने पूर्ववर्ती टीकाकारो—लाखा बारठ तथा सारग—का उल्लेख भी किया है। लाखा की टीका को 'वारतिक' कहा है और उसे अर्थ को स्पष्ट करने मे अक्षम बताया है। सारग की टीका को उसने 'विषम' अर्थात् क्लिष्ट बताया है। ऐसा कह कर उसने अपने द्वारा टीका करने के प्रयास का औचित्य सिद्ध किया है। जयकीर्ति का वह कथन इस प्रकार है—

सरसति माता समरिनइ, प्रणमी सद्गुरु पाय।
वनमाली वल्ली तणी, वात कहूँ विगताय॥
चावउ जगिभाषा चतुर, चारण लाखउ चग।
कीधउ पहिली वारतिक, अरथि न उपजइ रग॥
ग्वालेरी भाषा गुपिल, मद अरथ मित भाव।
वातवध किय भापविउ, समझण तिण समभाव॥
चतुर विचक्षण चतुर मति, रवि तकि पडित राय।
सकल विमल भाषा सुधी, कवि सारग कहाय॥
जिणकरि भाषा जोर करि, सस्कृत भापि सुजाण।
अरथ कहाउ लागइ विषम, वदइ न मद वपाण॥
गीरवाण भाषा भागवत, वल्लीजनक सुबीज।
कारिज हुँ कारण कहूँ, उपजइ जउ इम कीज॥

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि किसी गोपाल नामक टीकाकार ने ग्वालेरी भाषा मे भी कोई टीका की थी, जो अर्थ और भाव को स्पष्ट नही कर पायी।

नारायणवल्ली बालाववोध

खरतरगच्छीय कल्याणलाभ के शिष्य कुशलधीरगणि ने यह टीका सवत् १६६६ मे अपने शिष्य भावसिंह के लिए लिखी थी। इस उल्लेख के छन्द निम्न प्रकार हैं—

सोलहमो छिन्नवइ, मास आसू शुभ मासइ।
विजयदसमी गुरवार, एह विवरण उल्हासइ॥
कहइ कुशलधीर पृथुदास कृत, वनमाली वल्लीतणउ।
बालाववोध जगि वाचता, घणीभूमि प्रसरउ घणउ॥
कनक विमल शुभ श्रम्म, सहु सयणा सलहिज्जइ।
शिष्य मुख्य सुविचार, भावसिंह मुज्झ भणिज्जइ॥
आग्रह कीधउ अधिक, वेलि चउ विवरण किज्जइ।
श्रीकृष्ण वेलि विवरण सकळ, कुशलधीर वाचक कहइ॥
जे भणइ गुणइ मनसुधि सुणइ, लीला लखमी ते लहइ।

श्रीसार की सस्कृत टीका

खरतरगच्छीय रत्नहर्ष के शिष्य श्रीसार ने द्रविड कृष्णानन्द के लिए लाहौर मे सवत् १७०३ मे यह सस्कृत टीका लिखी। उस समय शाहजहाँ का शासन काल था। टीकाकार ने दुरसा आढा कृत माने जाने वाले प्रशस्ति-छन्द का भी उल्लेख किया है। सम्बन्धित अश इस प्रकार है—

अथोपोदेवदाविज्ञा कृष्णानन्दो द्विजाग्रणी ।
एव वल्या समुत्पत्ति श्रीसारमुखादय ॥× × ×
श्रुत्वा वल्लीतिनामान ग्रथ सर्वरगप्लुतम् ।
टीका मुटीका तस्याय कृष्णानन्दोह्यचीकरत् ॥× × ×
प्रताप तपनाश्यात् दिग्मडल महोदय ।
श्री साहिजहा साहि, राज्य जयतु गर्वदा ॥× × ×
चन्द्रगच्छ क्षीरवृक्ष क्षेमशाखा विलासिन ।
वाचक श्री रत्नहर्ष वनि हम जयतु ते ॥

लक्ष्मीवल्लभ का वालाववोध

अठारहवी शताब्दी म श्री लक्ष्मीवल्लभ नामक प्रसिद्ध जैन विद्वान ने यह बालाववोध बनाया । यह क्षेम शाखा के वाचनाचार्य लक्ष्मी कीर्तिगणि के शिष्य थे ।

गोपाल लाहोरी का व्रजभाषानुवाद

किमी 'मिरजाखान' की आज्ञा से गोपाल ने 'रसविलास' नामक यह अनुवाद व्रजभाषा मे प्रस्तुत किया । इसका उल्लेख सवत् १६८६ म जयकीर्ति ने किया है, अत यह उसके पूर्व की रचना होनी चाहिए । अनुवादक ने मरुभाषा को 'निर्जल' कहकर उसकी निन्दा करते हुए भी मरुभाषा मे लिखी इस 'वलि' का अनुवाद किया है । यह अनुवाद सामान्य कोटि का समझा गया है । टीकाकार का कथन निम्न प्रकार है—

आग्या मिरजाखान की लई करी गोपाल ।
'वलि' कहे का गुन यहे कृष्ण करी प्रतिपाल ॥
मरुभाषा निर्जल तजी, करि व्रजभाषा चोज ।
अब गोपाल यातें लहै, सरस अनूपम मोज ॥
कवि गोपाल यह ग्रथ रचि लायो मिरजा पास ।
'रसविलास' दे नाउ उनि, कवि की पूरी आस ॥

इनके अतिरिक्त भी वलि की अनेक टीकाएँ लिखी गई थी, जिनकी छानवीन की जानी है । हस्तलिखित ग्रन्थागारो मे वेलि की सैकडो प्रतियाँ मूल पाठ, सटीक, सचित्र आदि रूपो मे प्राप्त हैं । सभवत किसी भी अन्य राजस्थानी ग्रथ का इतना व्यापक प्रचार कभी नहीं हुआ । ज्ञात व अज्ञातकर्तृक टीकाओ मे कुछ विशिष्ट नाम ध्यान देने योग्य हैं । इनका उल्लेख ग्रन्थागारों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर किया गया है ।

(१) सवत् १७५० मे भुजनगर मे कवक द्वारा लिखित सस्कृत टीका । यह वाचक सारग कृत सुवोधमजरी टीका पर आधारित वताई जाती है ।

(२) शिवनिधान कृत बालावबोध, जो सवत् १७३८ मे लिपिबद्ध किया गया। इसे 'टब्बा' भी कहा गया है।

(३) वाचक सदारग कृत टीका (अनूप सस्कृत लाइब्रेरी ग्रन्थाक ६/१३) लिपिकाल सवत् १६८३। यह टीका सम्भवत वाचक सारग की ही है, जिस मूल मे सदारग लिख दिया गया है।

(४) गुजराती टीका (अनूप सस्कृत लाइब्रेरी ग्रन्थाक ८/७) लिपि सवत् १६६७।

(५) पुरोहित लक्ष्मण कृत टीका (अनूप सस्कृत लाइब्रेरी ग्रन्थाक २०/२०) इसे वरसलपुर मे लिखा गया था।

(६) दानचन्द्रकृत टबार्थ टीका (अभय जैन ग्रन्थालय, सख्या ३३/४८५) यह सवत् १७२७ मे नागौर मे लिपिबद्ध हुई थी।

(७) मेवाडी टीका—इसे सरस्वती भडार, उदयपुर मे महाराणा जगतसिंह के राज्यकाल म कवि नदराम ने लिखवाई थी।

आधुनिक काल मे भी डॉ० एल० पी० तेस्सितोरी ने तथा उनके बाद अनेक सपादको ने वेलि के अर्थ प्रस्तुत किय हैं। इनमे सर्वश्री जगमालसिंह, सूर्यकरण पारीक तथा रामसिंह, नरोत्तमदास स्वामी, आनन्द प्रकाश दीक्षित, कृष्णशकर शुक्ल एव नटवरलाल इच्छाराम देसाई (गुजराती) के नाम उल्लेखनीय है।

प्रशस्तियाँ

प्राचीन राजस्थानी साहित्य मे आधुनिक आलोचना की भाँति कोई पृथक् विधा विकसित नही हुई थी। यह काम टीकाकारो के ही जिम्मे छोड दिया गया था, जो सम्पूर्ण पाठ की व्याख्या करते समय यदा-कदा उसके गुण-दोषो की चर्चा कर देते थे। निजी रूप मे कवि-पडित ऐसी चर्चा अवश्य करते होगे, पर उन्ह कभी लिपिबद्ध नही किया गया। हाँ, प्रशस्तियो के रूप मे कुछ विचार पारम्परिक रूप मे अवश्य प्रकट किए गए हैं, जिन्ह आलोचना के रूप मे नही स्वीकार किया जा सकता। प्रसिद्ध कवियो की विशेषताओ की प्रशसा सस्कृत युग से ही होती आई है। जिस प्रकार कालिदास, वाल्मीकि, भवभूति, माघ, भारवि आदि कवियो की विशिष्टताएँ सस्कृत कवियो ने बखानी है, उसी तरह राजस्थानी कवियो न भी प्रशस्तियाँ की है। इस प्रकार की कुछ उक्तियाँ निम्न प्रकार मिलती है—

"कवितै अनू दूहै करमाणद, पात ईसर विद्या चो पूर।
छदे मेहो, झूलणे मालो, सूर पदे गीते हरिसूर॥"
"गीत गीत हुकमीचद कह्यो, हमें गीतडी गावो।"
"सर्वारयै गामोर रा गोळी हदा गीत।"

"सागरसिद्ध कवेसर हुवमो, नृपति महेस हुरो बुधवान ।
च्यार पदारथ आछा चारण, उरा लिया पाछा भगवान ॥"

ऐसी ही अन्य अनेक उक्तियाँ स्फुट रूप मे प्राप्त हैं।

पर प्रिथीराज के काव्य को जिन प्रशस्तियों से विभूषित किया गया, वैसा किसी अन्य कवि या उसकी रचनाओं के साथ नही घटित हुआ। यहाँ उन प्रशस्तियों की बानगियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं।

गाडण रामसिंह

रुक्मणि गुण रचण सिंगार महारस, वेद बीज तसि आण बखाण ।
पाचमो वेद भाखियो पीथा, पढियो उगणीसमो पुराण ॥१॥
केवळ भगत अथाह बलावत, तैं ज किसन चो गुण तवियो ।
विहु पाचमा निगम चाळवियो, नवदसमो ग्रंथ नीगमियो ॥२॥
म्हैं कहियो हरिभगत प्रथीमल, स्रवणे वयण वहण ततसार ।
रासो कहै पीथा महाराजा, आखर व्यास तणो अवतार ॥३॥

इस गीत को अनूप सस्कृत लाइब्रेरी के एक गुटके मे गाडण रामसिंह का कहा बताया गया है। गीत की अन्तिम पक्ति मे 'रासो' का उल्लेख भी है। पर कुछ विद्वान इस दुरसा आढा कृत ही मानते हैं। दुरसा कृत गीत मे प्रथम पक्ति तथा अन्तिम दो पक्तियाँ कुछ भिन्न है, जो इस प्रकार हैं—

रुकमणि गुण लखण रूप गुण रचवण, वेलि तास कुण करै बखाण ।
अगम अगोचर अति अचड
व्यास तणा भाखिया समोवड, ब्रह्म तणा भाखिया थड ॥

इस प्रकार यह विवाद अभी अनिर्णीत ही समझा गया है।

मोहनराम

रुकमणी तणी वलि पृथीमल रची, उदधिवास कीधो उदरि ।
बुधि गजमुख बोलिवै बिहुवा, पुणिया वाइक व्यास परि ॥१॥
श्रवणे ब्रह्म सवद तको सांचरियो, नयण अरक इद उभै निवास ।
हरि कर मौलि, ध्यान हरि समहरि, अवळि दीपवै तणो उजास
विसजाणण ब्रह्म उक्ति ताइ वधी, वाहु हूणूं भणिया तीवीर ।
कति खट अभि उरमा(ळ) सुरसी, धरणी अखिर मेर मधीर ॥३॥
पठिवै गग प्रवाह प्रवाणी, सुणता अम्रित पान समथ ।
माड प्रभू री मथ ग्रथ माखण, परगट कीधी लता प्रथ ॥४॥

५

वारठ लाखा

वपि वाधै नितू विराजै अविरल, भले विन्हु विध उर नवलो भाँति।
प्रभु सू जेतो हेत प्रथीमल, पै सरमो तेतो पुरसाति ॥१॥
राजै राव राठोड प्रथीरज, रूड़ै अगि रूडी वे रीत।
प्रीत जिसी सग्स जगतपति, पैसो जिसी खत्रीपण प्रीत ॥२॥
अधिको नित कलियाण अगोभव, उमै विधि अधिकार अछेह।
व्है जिम तूझ सनेस मरिसहर, सुसरिय तो मरिस सनेह ॥३॥
विघ बिहु रिध की जैंत बसोधर, धारण हेक्ण श्रवण ध्रन।
मनि तू अवरै, सुरे न मानै, मछर न अवरै नरेमन ॥४॥

वारठ लाखा कृत ढूँढाडी टीका से

क्तिरा आगै वड भवी, पुणिया प्रभु जस पेस।
चोज ओपमा चातुरी, वक्त्या प्रथ आदेस ॥१॥
नारायण तणो काव्य वड नीको, वाखाणण चौ करि विस्तार।
चोज कमध कवि चढी ओपमा, नमो पीथ नित उक्ति अपार ॥२॥

भोजक जादव

वेद बीज जळ बयण, सुकवि क्षड मडी सधर।
पत्र दुहा गुण पुहप, वास भोगी लिखमीवर।
पसरी दीप प्रदीप, अधिक गहरइ आडबर।
जे जपइ मन सुद्धि, अनफ्ळ पामै अन्तर।
विस्तार कीध जुग-जुग विमळ, धणी क्रिसन कहिणार धन।
अमृत वेलि पीथल अचळ, तै रोपी क्ल्याणतन ॥

नाभादास (भक्तमाल से)

सवैया गीत सलोक, वेलि दोहा गुण नवरस।
पिंगल काव्य प्रमाण, विविध विधि गायो हरिजस ॥
परिदुग्र विदुग्र सलाघ्य, वचन रचना जु उचारै।
अर्थ विचित्र निमोल, सबै सागर उद्धारै ॥
रुक्मिणी लता वरणन अनुप, वागीस-वदन कल्याणसुव।
नरदेव उभै भाषा निपुण, पृथ्वीराज कविराज हुव ॥

राघवदास (भक्तमाल से)

अपणो इष्ट बखाणि, मनोत्रमवचन रिझायो ।।
वरणि वनि विसतार, गिरा रुचि गोविन्द गायो ।
सहज सवइया गीत, कवित छंद गूढ़ा गाहा ।
वरन्यो रुक्मिणि सार, भक्ति करि लीन्हीं लाहा ।
अनरापो रयाम प्रताप तैं, यम आगम जान्यो भूत भवि ।
इह बडी रहणि राठौर की, पृथी परि पृथीराज कवि ।।

श्रीसार कृत संस्कृत टीका से

पृथ्वीराज प्रसिद्धा जगति गुणनिधा राजराजा क्यीना ।
समावल्लीति नाम्नी हरिचरितयुक्ता राजगीता चकार ।।
पृथ्वीराजावतारेण भक्तानुग्रह काम्यया ।
स्वयं नारायण स्वस्य जगादचरितं हितं ।।
दाता भोक्ता हरेर्भक्त कर्ता शास्त्रस्य शास्त्रवित् ।
पृथ्वीराज समोराजा न भूतो न भविष्यति ।।
श्रुत्वा वल्लीतिनामानं सर्वरसाद्भुतं ।
टीका सुटीका सत्यार्थं कृष्णनदासाचीकरत् ।।

स्फुटकाव्य

वेद च्यार नव व्याकरण गुण चौरासी गूढ़ ।
तैं मुत ग्रंथ कल्याणतन, अब गई मजरस अूठ ।।
पढ सरस्वती नूर मुख, पिंड पौरष उर राम ।
तैं भगि ग्रंथ कल्याणतन, बहु विलवण ठाम ।।
अस लीला पिव पीथनो चपावती ज नार ।
अै तीनूं ही एकठा, सिरज्या सिरजणहार ।।

प्रिथीराज का कृतित्व

किसी भी कलाकार के कृतित्व का मूल्याकन उसके कलापक्ष और भावपक्ष के समन्वित स्वरूप पर ही अवलम्बित है। जो बात तक्षण और चित्रण के लिए है, वही साहित्य के लिए भी लागू होती है। काव्य-साहित्य मे भी शब्द-सयोजन, छन्द-रचना और अलकारो का कलापक्ष, भावपक्ष को उजागर करने मे सहायक होता है। यदि भावपक्ष निरे हल्के स्तर का हो तो भी कलापक्ष की सुदृढता उसे कुछ सीमा तक टिकाये रखने म समर्थ होती है। इस दृष्टि से कलापक्ष की सबलता अपेक्षित है। इसके विपरीत यदि कला-पक्ष के अगोपाग --शब्द-सयोजन, छन्द-गठन आदि—दोष-युक्त होगे तो भाव-पक्ष श्रेष्ठ होते हुए भी भावक पाठक तक उसके पहुँचने मे बाधा रहेगी। प्रिथीराज के कृतित्व को हम दोनो ही प्रकार से परखना चाहेगे।

भाषा

मध्ययुगीन राजस्थानी कवियो मे जिस स्तर की शिक्षा का प्रचलन था उसकी तुलना मे प्रिथीराज को अधिक उच्च स्तरीय शिक्षा ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनके काव्य मे प्रयुक्त शब्द-रूप यह प्रकट करते है कि उन्हें सस्कृत, प्राकृत तथा ब्रजभाषा की समुचित शिक्षा मिली थी। ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाओं से उनका परिचय भी उनके भाषाज्ञान को समृद्ध करने म कारणभूत रहा था। 'वलि' के एक छन्द म उन्होने स्वय यह घोषित किया है कि जो पाठक अमुक-अमुक शास्त्रों और कलाओ का ज्ञान रखते हैं, वे ही अर्थ की गहराइयो म उतर सकेंगे—

ज्योतिषी वैद पौराणिक जोगी, सगीती तारकिक सहि।
चारण भाट सुकवि भाखा चत्र, करि एकठा तो अरथ कहि॥

ज्योतिष, वैद्यक, पुराण, योग, सगीत, तर्क तथा डिंगल (चारण) पिंगल (भाट) आदि भाषाओ का चातुर्य और काव्य-रचना—इन सभी का ज्ञान सम्मिलित रूप से प्रिथीराज को था। इन सभी का जो विशिष्ट प्रदर्शन प्रिथीराज ने किया है, वह तत्कालीन किसी विरले ही कवि की कृतियो मे मिल सकता है। सस्कृत और

प्राकृत साहित्य का विधिवत् अध्ययन प्रिथीराज न अपने विद्यागुरु गदाधर व्यास से किया था। उन्ही के पास उन्होने सस्कृत के श्रेष्ठ काव्य ग्रन्थो का मर्म भी हृदयगम किया होगा। उस समय के बीकानर म ज्ञान विज्ञान की अन्य शाखाओ के पारगत विद्वान भी प्रचुर मात्रा मे थे जिनके साहचर्य स उन विद्याओ का भी थोडा परिचय उन्हे हो गया था। भक्ति भावना की दीक्षा उन्हे बिटठलनाथ के चरणो मे प्राप्त हुई थी और क्षत्रियत्व तथा लोक व्यवहार के उनके आचार्य थे उनक अग्रज रामसिंह। इन सभी के प्रति प्रिथीराज न अपनी कृतज्ञता प्रकट की है।

सस्कृत भाषा के पाडित्य तथा विविध विद्याओ के अध्ययन से प्रिथीराज का शब्द सयोजन सस्कृतगर्भित हो गया है। 'वलि का एक छन्द तो पूरा का पूरा सस्कृत म ही दिया है। यह अकेला छन्द ही उनके सस्कृत ज्ञान का साक्षी बन सकता है—

कस्मात् कस्मिन् किल मिश्र किमर्थ केन काय परियासि कुत्र।
ब्रूहि जनन येन भो ब्राह्मण, पुरतो म प्रेषितम पत्र॥

सस्कृत भाषा और शास्त्रीय ज्ञान की यह झलक रुक्मिणी के शिक्षा प्रसग म भी दरसाई गई है—

व्याकरण पुराण समृति सासत्र विधि, वेद च्यारि खट अग विचार।
जाणि चतुरस चौसठि जाणी अनन्त अनन्त तसु मधि अधिकार॥

यह परिगणन ही कवि के सम्यक ज्ञान का परिचायक हो सकता है। कवि न अपन आराध्य 'कृष्ण' तथा उनकी प्रिया पत्नी को श्रेष्ठज्ञान स सम्पन्न चित्रित किया है।

सस्कृत के कुछ एस शब्दो की चर्चा करके, जो प्राय राजस्थानी कवियो ने प्रयुक्त नही किए हैं, यह प्रमाणित किया जा सकता है कि प्रिथीराज की भाषा अन्य कवियो की तुलना मे अधिक सस्कृतगर्भित है—

पुनर्भव (नख), प्रभणन्ति (कहता है), सुमा (स्वसा) आरात (समीप) प्रणपति (प्रणाम), जत्र (जहाँ), वदनारविंद (मुखकमल) अम्बिकालय (देवी का मन्दिर), चितातुर (चिताग्रस्त) चलपत्र (पीपल) आसन्नो (समीप), मुखधारणा (मुखाकृति), सन्ति (है), मनसि (मनम), व्याज (बहाना), धौत (धुल हुए या सफेद) कवरी (वेणी), करम्बित (गूँथी हुई) कठचीत्र (काष्ठ चित्र) तवति (स्तवति), समृति (स्मृति), सुषपति (सुषुप्ति) कठसरी (कण्ठश्री), आवरित (आवृत) त्रिमा (तृषा) चामीकर (स्वर्ण), किञ्जलक (किंजल्क)। 'वलि' के प्रथम एक सौ पद्यो म से चुन हुए इन सस्कृत रूपो की तुलना म उन्ही पद्यो म विदेशी भाषा के शब्द केवल निम्न प्रकार है—

कागळ, कमाई, दूबौ, वारगह, वाजू (वध), गजरा।

व्युत्पत्ति की अनिश्चितता से इनके विषय में भी जोर देकर नहीं कहा जा सकता। प्रिथीराज की अन्य रचनाओं में भी देशी और विदेशी शब्दों का अनुपात इससे अधिक नहीं है। उनके दस डिंगल गीतों की प्राय डेढ सौ पंक्तियों में मात्र १० विदेशी शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो लोक-भाषा में रमे हुए और अपरिहार्य बने हुए हैं—फौज, खूदाळम, रायजादा, मरद, जहर, बरवाद (वास), खरच, बगतर, पतसाह, वनिया। प्रिथीराज के समकालीन व पूर्वकालीन अन्य कवियों—दुरसा आढा, माधा झूला, मीराँ—आदि में यह अनुपात कही अधिक है। भारतीय शास्त्रों और साहित्य के गम्भीर अध्ययन तथा धार्मिक निष्ठा के कारण ही यह भाषागत सौष्ठव आ पाया है। संस्कृत शब्दों के डिंगल रूप बनाने की प्रक्रिया अपना कर प्रिथीराज ने समूची काव्य-भाषा को एक समान वातावरण में ढालने का प्रयत्न किया है जो किसी भी श्रेष्ठ काव्य के लिए आवश्यक है। ऐसा करते हुए भी अनेक डिंगल कवियों की-सी हठधर्मिता और दुरूहता उन्हें नहीं छू गई है। संस्कृत शब्दों से सुपरिचित साधारण पाठक उन शब्दों का रसास्वादन भली प्रकार करने में समर्थ है।

प्रिथीराज की ज्ञात रचनाओं में पिंगल अथवा व्रजभाषा की कृतियाँ नगण्य हैं। पर जो कुछ उन्होंने लिखा है, वह सिद्धहस्त कोटि का है। व्रजभाषा की स्वाभाविकता को उन्होंने छोड़ा नहीं है—

मन कहिया चित्त न करै, चित किता करै सु होइ।
इन दुहुवन अगरो परो, प्रिथ प्रभु करै सु होइ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रिथीराज ने अपने समकालीन तथा पूर्ववर्ती व्रजभाषा-कवियों के काव्य का अध्ययन तो किया ही था, वरन् मथुरा तथा वृन्दावन में उनके सान्निध्य में भी समय बिताया था। यही कारण है कि उन्हें व्रजभाषा-काव्य में यह कौशल प्राप्त हुआ।

डिंगल की अपनी परम्परा तो प्रिथीराज के रक्त में समाई हुई थी। डिंगल की जो शब्द-योजना उनके काव्य में, विशेषकर 'वेलि' में द्रष्टव्य है, वह उनके पांडित्य की साक्षी देती है। प्रिथीराज के डिंगल गीत निस्सदेह श्रेष्ठ कवियों की कोटि के हैं। संस्कृत शब्दों के डिंगलीकरण की जो कारीगरी वेलि में स्थान-स्थान पर दिखाई देती है उसके विपरीत उनके गीतों तथा दूहों में डिंगल की प्रचलित शब्दावली का ही सरल प्रवाह है। भाषा की सबसे बड़ी कसौटी भाववहन की उसकी क्षमता से ही मानी जा सकती है। प्रिथीराज ने शृंगार, वीर, शान्त, करुण आदि रसों के वर्णनों से उस क्षमता को भली-भाँति प्रकट कर दिया है।

भाषा के सौष्ठव में लोक प्रचलित मुहावरों का समीचीन प्रयोग सदैव वांछित रहता है। इस दृष्टि से प्रिथीराज की भाषा लोक-व्यवहार के पर्याप्त

निकट लगती है। कुछ मुहावरे इस प्रकार हैं—झार्‌या आगळ हार, वधिया घटिया बिसवा वीस, लागी लेखै, घडी-घडी घडियाल वाजै छाड्यो छाछ करेह, मनछा वाचा करमणा, भमरजाळ पडियो भमण, काला काळो धार बहमी, हूँ आयो भवहारि, जळ काजळ भेळा, लागे नही लिगार, घेर्‌या घणै जणेह, झालरि रो झणकार, गगाजळ गुटकीह, पडियो रहमूं पाय, लख घट भांजे घडे सवा लख, ग्वाळणियो मिली मगळ गायो, रुकमणी भाग सराहै राणी, माटी-माटी मांय मिळी, आयो हू पग माडि, जण-जण आगे जणो-जणो, त्रिणि-दीह लगन वेळा आडा।

मुहावरों की यह छटा समूचे काव्य मे ही व्याप्त है, जिससे प्रसाद गुण की वृद्धि हुई है। कालिदास जैसे सस्कृत के श्रेष्ठ कवियों मे भी यही प्रसाद गुण मिलता है, जो पाठक के लिए काव्य को सहज बोधगम्य बना देता है और जिसकी परिणति रसपरिपाक मे फलीभूत होती है।

वर्ण्य विषय की अनुकूलता भाषा की एक ओर परख है। शृगार की कोमल कान्त पदावली, युद्ध का ओजस्वी शब्द-सयोजन, शान्त रस के लिए विरक्ति के सृजन मे समर्थ पद-रचना, प्राकृतिक वर्णना की विशेषताओ मे मेल खाता शब्द-चयन, ये सभी भाषा की सामर्थ्य को प्रकट करनेवाले होते हैं। कुछ प्रसगो की परीक्षा करने से पिथीराज की भाषाविज्ञता का अनुमान लगाया जा सकता है—

वर्षा-वर्णन

> वरसते दडड नड अनड वाजिया, सघण गाजियो गुहिर सदि।
> जळनिधि ही मामाइ नही जळ, जळबाळा न समाई जळदि॥

युद्ध-वर्णन

> खागखट विकट खेताहरो खेलतो, झाट झडि ओझडा वाहतो झेलतो।
> विढतो वादतो वीछतो खेलतो, थाट अविथाट दरबार को ठेलतो॥

शान्तरस-वर्णन

> खाटी सो दाटी धर खोदे, साथ न चाली हेक मिळी।
> पवन ज जाय पवन विच पैठो, माटी माटी माय मिळी॥

सखी-वर्णन

> किहि करगि कुमकुमौ कुकुम किहि करि।
> किहि करि कुसुम कपूर करि॥

किहि करि पान अरगजौ किहि करि।
धूप सखी किहि करगि धरि॥

नगर-वर्णन

जोइ जळद पटळ दळ सावळ ऊजळ।
घुरै नीसाण सोइ घणघोर॥
प्रोळि प्रोळि तोरण परठीजैं।
मडे किरि ताडव गिरि मोर॥

वर्णन-चातुर्य

जिणि सेस सहस फण फणि फणि बिवि जिह।
जीह जीह नकनवौं जस॥
तिण ही पार न पायौ त्रीकम।
वयण डेडरा किसो वस॥

उपर्युक्त शब्द-सयोजन का सौन्दर्य वर्ण्य विषय की अनुरूपता के अनुसार ही नहीं है, वल्कि उसकी प्रभावोत्पादकता मे वृद्धि करने मे भी समर्थ हुआ है।

छन्द-रचना

वेलि मे प्रयुक्त 'वेलियो' गीत-प्रकार के अलावा दूसरे गीतो म अन्यान्य गीत छन्दो का प्रयोग भी मिलता है। गीतो के अतिरिक्त दूहा, सोरठा, छप्पय और कुडलिया छन्दो मे भी कुछ रचनाएँ की गई है। ये सभी उस समय की साहित्यिक कृतियो के प्रमुख छन्द थे। छप्पय को ही 'कवित्त' भी कहते थे। दूहे की तुलना मे सोरठा अधिक प्रभावोत्पादक समझा जाता था। पर प्रमुखता डिंगल गीत छन्दो की ही रहती थी। खुडद साणोर, अराटियो, प्रहास साणोर, सपखरा आदि प्रचलित गीत छन्द ही अधिक काम मे लिये गए है। यह ध्यान देने योग्य है कि डिंगल छन्द-शास्त्र के आचार्यों ने गीतो का नामकरण करते समय उनकी पठन-शैली और वर्णन वैशिष्ट्य को ही ध्यान मे रखा है। 'वेलियो' गीत का नामकरण भी 'वेली' अर्थात् 'साथी' के रूप मे होना सम्भव है। जो गीत-भेद अधिक प्रयोग मे रहता है, उसे 'साथी' या 'वेली' (वेलियो) कहना सगत भी प्रतीत होता है। इस भाँति 'सुपखरो' भी गीत की निर्दोषता और सरलता से सम्बन्धित हो सकता है। यद्यपि यह विषय विशेष अध्ययन की अपेक्षा रखता है, पर प्रसगान्तर्गत गीत-भेद की चर्चा मे यह टिप्पणी ध्यान देने योग्य है। 'कन्हैया नृत्याष्टक' के अमृतध्वनि पद मे छन्द की गति, यति, विराम और गण-मात्रादि बन्धनो का निर्वाह करते हुए जो उत्कृष्ट शब्द-योजना प्रस्तुत की गई है, उसमे नृत्य की पदचाप के साथ सपूर्ण

तादात्म्य म कही भी स्खलन दिखाई नही देता। ऐसे छन्दो का गठन आचार्यों के लिए भी एक कसौटी समझा जाता है। दूहो तथा सोरठो म वैणसगाई का निर्वाह आवश्यक रूप से किया जाना अपेक्षित होता है। प्रिथीराज ने इसका पूरा ध्यान रखा है। छप्पय कवित्तो का रचना चातुर्य भी कवियो तथा काव्य-रसिको की परख का विषय बना रहता था। अलूजी कविया इन्ही छप्पय कवित्तो के उच्च कोटि के कौशल के लिए विख्यात रहे थे। 'कवितै अलू' कहकर आज भी काव्य-पारखी उन्ह याद करते है। प्रिथीराज के छप्पयो म भी कही रचना शिल्प सबधी कोई कसर प्रतीत नही होती। उनका सहज प्रवाह अन्य छन्दो की भाँति ही सराहनीय है।

लाख सिंघ केहरी, एक जवक ग्रहि ल्यावै।
दुयण देखि भुतेस, तजै कोमड पलावै॥
मेस नटै भुअभार, भगति प्रहलाद न भावे।
बलि राजा हरिचरण छाडि अवरां चित ल्यावै॥
रवि किरण पेखि जग तम रहै, दव हेमाचळ प्रज्जळै।
हरि हरि पुकार सारगधर, जा सिर ताज न सभळै॥

अलकार

डिंगल क सर्वप्रमुख अलकार के रूप म 'वैण सगाई' ही गिना जाता है। वर्णों की 'सगाई' अर्थात निकट सम्बन्ध के आधार पर गढे गये इस अलकार को प्राय सभी कवियो ने अपनाया है। दूहे के चार चरणो मे से हरेक मे प्रथम तथा अन्तिम शब्द के आदि वर्ण समान होने पर आदर्श 'वैण सगाई' अलकार माना जाता है, यथा—

चपा डगला चार सामां हूँ दीजै सजल।
हीडळते गळ हार, हसतमुखा हरराय री॥

जा बात दूहे मे है, वही सोरठे के लिए भी लागू होती है—

रमता कोड न रोक, लिखमीवर करता लहै।
तू भजियौ त्रीलोक, वेगा वसदेरावउत॥

वयण सगाई' के अन्तमेळ, मध्यमेळ आदिमेळ आदि अनेक भेदोपभेदो मे उपर्युक्त भेद ही अधिक प्रचलित है, और श्रेष्ठ समझा जाता है।

डिंगल काव्य शास्त्र के आचार्यों ने उक्त, जथा तथा दोषो का भी उल्लेख किया है, जिनका निर्वाह कुशल कवि के लिए आवश्यक है। 'उकत' गीत को सम्बोधित करने को कहते हैं। इसके नौ भेद होते हैं, यथा—सुद्ध सनमुख, गरभित सनमुख, सुद्ध परमुख, गरभित परमुख, सुद्ध परामुख, गरभित परामुख, सुद्ध स्रीमुख, सुकवि स्रीमुख, मिस्रित।

प्रिथीराज ने प्राय सभी 'उकतो' का प्रयोग किया है पर 'मनमुख उक्त' उन्हे विशेष प्रिय रही प्रतीत होती है। गीतो की निम्न पंक्तियाँ मनमुख उक्त की ही हैं—

'तो तणा सूर मेवगा तणी जी, रिण कजि सनाहिया रहे।'
'दीमै तूझ द्वारि जण दूजा, है गै गळ थी तो हुक्म।'
'गयो तू भला भला तू न गयो, धिन धिन तू सादया धणी।'
'रुधर धापा थकी केवियां तणै रिण, देवि दे तूझ आसीस दूदा।'
'पोढियै जु तै कियो राव पाहू, भारथ हू अधिको भाराथ।'
'सपति वाजि तूझ सारीखा, रायजादा जेमल गिर राव।'
'अणभम हुती ताहरी आझो, दडवडिया सह विया दळ।'

'जथा' तथा 'दोख' भी ११-११ ही होते हैं। जथाओ के नाम—विधानीक सर, सिर, वरण, अहिगत, आद, अन्त, सुध, अधिक, न्यून तथा सम हैं। 'जथा उक्ति-वैचित्र्य का ही एक प्रकार है, जैसे 'सूर' नामक जथा मे गीत के दूहे मे जो बात तीन चरणो मे कही जाती है, वही चौथे चरण मे पुष्ट की जाती है। इसी प्रकार अन्य जथाओ के पृथक्-पृथक् लक्षण हैं जिनके प्रयोग से वर्णन म चमत्कार आता है। 'वरण' नामक 'जथा' म नख से शिख तक तथा शिख से नख तक वर्णन किया जाना विहित है। इसके दो उदाहरण 'वलि' मे बहुत सुन्दर रूप मे दिए गए हैं, जहाँ कवि ने रुक्मिणी के शृगार का वर्णन किया है। ग्यारह प्रकार के 'दोखों' मे अन्ध, छवकाळ, हीण, निनग, पागळो, अपस, नाळछेदक, पखतूट, बधिर, अमगळ तथा जातविरोध हैं। सिद्धहस्त कवियो मे एस दोष नही होने चाहिए। दो तीन भाषाओ क शब्दो को एक ही छन्द मे प्रयुक्त करने मे 'छवकाळ' दोष होता है, और नायक के पिता तथा वश का नाम नही होने से 'हीण' दोष कहा जाता है। इसी प्रकार अन्य दोषो की भी पृथक्-पृथक् पहिचान हैं।

अर्थालकारो मे भी अनेक का बहुश प्रयोग प्रिथीराज द्वारा किया गया है। पर रूपक उन्हे अत्यन्त प्रिय रहा था। वेलि मे ही नही, अन्य रचनाओ मे भी रूपको का प्रयोग प्रचुर मात्रा मे मिलता है—

चाच तरवारिया रतनसिर चुगतो कमळिपग दीयतो घडा काहो।
सुचलि चालियो उदैसिघ समोभ्रम माल्हियो आवुवा सेन माहो॥

(यहाँ तरवार रूपी चचु मे मुक्तारूपी सिरो को चुगता हुआ, 'घड' रूपी कमलो पर पैर रखता हुआ नायक (जगमाल सीसोदिया) आवुवो (सिरोही वाले देवडा राजपूतो अथवा जल भडार म) की सेना म सहज रूप से विचरण करता है।)

वेलि मे उत्प्रेक्षा, उपमा, श्लेष, यमक, अर्थान्तरन्यास, प्रतीप, दृष्टान्त, अपह्नुति, उल्लेख, व्यतिरेक, यथासख्य, वक्रोक्ति आदि अलकार भी स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हैं—

किरि कठचीत्र पूतळी निज करि चीतारै लागी चित्रण।

—उत्प्रेक्षा

(मानो काष्ठपट पर चित्रित पुतली ही अपने चित्रकार को चित्रित करने लग गई हो।)

कुंदणपुर हुता, वसा कुन्दणपुरि, कागळ दीधो एम कहि।
राज लगे मेल्हियौ रुखमणी, समाचार इण माहि सहि।

—यथासंख्य

(कुंदनपुर से आया हूँ, कुंदनपुर में ही रहता हूँ, यह कहकर पत्र दिया। आपके पास रुक्मिणी ने भेजा है, इसी में सारे समाचार हैं।)

रामावतारि वहे रणि रावण, किसी सीख करुणाकरण।
हू ऊधरी त्रिकुटगढ हुती, हरि वधे वेळाहरण॥

—वक्रोक्ति

(हे करुणाकरण, रामावतार के समय किसकी सीख मान कर आपने रावण का वध किया था, लंका में मेरा उद्धार किया था और समुद्र पर पुल बाँधा था।)

सांस्कृतिक परिवेश

प्रिथीराज के काव्य की सबसे बड़ी विशेषताओं में एक उसका सांस्कृतिक परिवेश है। तत्कालीन संस्कृति की यह एक जीती-जागती विगत है, जिसमें मध्ययुगीन संस्कृति का बहुमुखी आयाम सिमटकर समा गया है। ऊठ-बैठ, बोल चाल, खान-पान, वेश-भूषा, लोक-व्यवहार, पर्व-त्यौहार, विवाहादि संस्कार, हरण-प्रसंग, सेना, युद्ध, वनस्पति, बाग-तड़ाग, स्थापत्य, चित्र, काव्य, राजसभा, अन्तःपुर, वर्णाश्रम आदि अनेकानेक वर्णनों से यह काव्य अतीव समृद्ध हो गया है। तत्कालीन ज्ञान-विज्ञान की नानाविध शाखाओं का समावेश भी कर लिया गया है। ज्योतिष, वैद्यक, तर्कशास्त्र, दर्शन, भक्ति, पुराण ज्ञान आदि की सूक्ष्म जानकारियाँ भी दी गई हैं।

परम्परागत देव-वन्दना तथा विनम्रता का प्रदर्शन ग्रन्थ के प्रारम्भ में किया जाना भारतीय कवियों की अपनी विशेषता रही है, जिसे प्रिथीराज ने भी अपनाया है। वर्ण्यविषय—आराध्यदेव का गुणगान—की महत्ता और स्वयं की अल्पबुद्धि-जन्य असमर्थता कालिदास जैसे महाकवि ने भी प्रकट की थी। उन्हीं स्वरों में प्रिथीराज ने महाकवि का अनुगमन किया है। जैसा कि कहा जा चुका है, स्त्री के सौन्दर्य की ही प्रशस्ति करनेवाले मध्ययुगीन कवियों से हटकर प्रिथीराज ने उसके मातृरूप को और भी महान बताया है, जो उनकी अपनी विशेषता कही जा सकती है।

सम्पन्न घरों की बालिकाओं के लालन-पालन के चित्र भी प्रिथीराज ने अच्छे

जानेवाली जातियो मे तो औरतो को भगा ले जाने की घटनाएँ आज तक होती हैं।

देवी-पूजन विवाहादि अवसरो के पहले किया जाता था। कुँवारी कन्याएँ जीवन भर गौरी का पूजन इसीलिए करती थी कि उन्हे मनपसन्द वर की प्राप्ति हो। प्राचीन सूफी काव्यो म भी देवी दर्शन के बहान नायक स गुप्त रूप स मिलन के दृष्टान्त आते है। 'चन्दायन' काव्य मे मौलाना दाऊद ने 'लोरिक' नायक म मिलने के लिए 'चन्दा' के देवी मन्दिर जाने का प्रसग दिया है। अन्त पुरा म बन्द रहनेवाली राजकुमारियो के लिए ऐसे ही अवसर थ, जब व बाहर आकर स्वच्छन्दता का अनुभव कर सकती थी।

रूप-सौन्दर्य का जादू कितना विकट होता है, यह काव्योचित अतिशयोक्ति प्रिथीराज ने रुक्मिणी के सौन्दर्य मे समूची सेना को मूर्च्छित बनाकर व्यक्त की है। लोक म भी 'सोरठ' का एक दूहा इस प्रकार की उक्ति से युक्त है—

सोरठ चली बजार म कर सोळा सिणगार।
विणज गवायो बाणिया, बळद ज मूढ गवार॥

(सोरठ सोलह शृगार करके बाजार मे चली तो उसकी छवि देखने से बेसुध हुए दुकानदारो न धन्धा करना भुला दिया और ग्रामीण अपने बैल गवा बैठे।)

महाभारत काल मे तो रथो का प्रचलन था ही, पर मध्य युग मे भी बैलो क रथ, बहली आदि का उपयोग कुलीन महिलाओ के लिए किया जाता था। कृष्ण का रुक्मिणी को रथ मे बैठाकर भगा ले जाना इसलिए भी सगत कहा जा सकता है। ऐसी कथाएँ मिलती हैं, जिनम हरण के उद्देश्य से लोग बैलो को पालते तथा साधते थे। जब वे उनके करतब के प्रति आश्वस्त हो जाते तो उन बैलो के रथो बहेलियो म हरण की घटनाएँ घटित करते थे।

युद्ध-वर्णन मे केसरिया वस्त्रो मे सजे कुलीन ठाकुर, नगाडो की ध्वनि, घोडो की हीस, मारक प्रहार करनेवाले योद्धा, हथनाळ, कुहुक बाण, जिरह बख्तर तथा भाले प्रिथीराज के अपन युग क ही नही बल्कि जीवन के अभिन्न अग रहे थे। इस दृष्टि स उनके वर्णन की सार्थकता सर्वोपरि कही जा सकती है। और इसके साथ ही काव्य रूढि के रूप म चौसठ योगिनियो का आगमन, रुधिर के पात्र भर-भरकर पीना, वीरो की तलवारें, रुधिर क प्रवाह, गृद्धो का मँडराना, अगो का क्षत-विक्षत होना आदि सम्यक् प्रयोग किये गये हैं।

युद्धप्रसग मे पूर्ववर्ती राजस्थानी कवि लोहार का रूपक बडे चाव स बरतते आये है। प्रिथीराज रासो म कवि चन्द ने भी इस अपनाया है। लोहार युद्ध उपकरणो स घनिष्ठ रूप स जुडे रहने के कारण कवियो की कल्पना म सम्माननीय स्थान पाय तो कोई विचित्र बात नही है। प्रिथीराज ने भी लोहार और उसके उपकरणो—अहरण, सँडासी, अग्नि, जल आदि को रूपकबद्ध किया है।

रुक्मि को रुक्मिणी का भाई जानकर, उसका वध करने के स्थान पर अनादृत करने का प्रसग भी परम्परागत है। प्राचीन रीति मे अनादृत किये जानेवाले विशिष्ट व्यक्तियो के सिर के आधे बाल कटवा देना, मूँछें कटवा देना, गधे पर चढाना, फूटे मिट्टी के बर्तनो की माला गले मे पहनाना, काला मुँह करना आदि प्रकारो का प्रचलन था। 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' नामक तेरहवी शताब्दी (वि०) के राजस्थानी जैन काव्य म पराजित राजाओ को मुण्डित किये जाने का वर्णन आता है।

प्राचीन संस्कृत काव्यो मे राजा के नगर प्रवेश पर बाजारो व घरो की सजावट, पुरवासियो द्वारा शुभ्र वस्त्र धारण करने तथा मगलाचरण और आनन्द-प्रमोद के चित्र खींचे गये हैं। वाल्मीकि ने भी राम के अयोध्या-आगमन पर ऐसा ही वर्णन किया है। कालिदास के 'रघुवश' मे भी ऐसे वर्णन प्राप्त हैं। प्रिथीराज ने उसी परम्परा मे उत्सव-बधाव, तोरण, छत्र, धवलित आवास, बाजा, रग-गुलाल आदि द्वारा नगर शोभा का वर्णन किया है। राजा की सवारी देखने के लिए सब काम छोडकर छतो पर दौडकर एकत्रित हुई पुरनारियाँ आज भी राजस्थानी संस्कृति की विशेषता बनी हुई हैं। रुक्मिणी को लेकर घर आने पर आरती उतारना, मगल गीत गाना, बाजे बजवाना आदि राजस्थान के जीवन के अभिन्न अग हैं।

ब्राह्मण से विवाह का मुहूर्त पूछना तथा विवाह-सस्कार मे अरणी, घृत, चन्दन, पूर्वाभिमुख आसन, मधुपर्क सस्कार, फेरे, करग्रहण, वामाग बैठाना आदि रीतियो का निर्वाह भी परम्परासम्मत है।

शयनगृह की रीति, प्रथम मिलन तथा ऋतु-वर्णन भी प्राय कवि-परम्परा के अनुकूल ही दरसाये गये हैं। ऋतुराज की महफिल के मिस प्रिथीराज ने अपने समय की महफिलो की झाँकी प्रस्तुत की है। मृदग, गायक, आणगर, निरतकर, तालधर, तन्त्रीवाद्य, ग्रजरीव, उपगी, रसज्ञ लोग, विभिन्न राग-रागिनियाँ, यवनिका, पात्र आदि उस समय की महफिलो के अग थे।

यद्यपि ऋतु-वर्णन मे नाना प्रकार के वृक्षो, लताओ, पुष्पो और फलो का परिगणन रूढिगत ही है, पर तत्कालीन बागो मे अनेक तरह के वृक्षादि लगाने की एक प्रथा भी थी। राजाओ के बागो म तरह तरह के वृक्षादि होते थे, जो आम तौर पर उन क्षेत्रो मे नही होते थे। 'आमेर' के राजोद्यान म अनार, आम जैसे फल तथा केसर की क्यारियाँ होने के प्रमाण उपलब्ध हैं। इसलिए प्रिथीराज का यह कथन—'दलि-दलि आर्द्रिणि केसरि दीसंति'—कोई आश्चर्य की बात नही कही जा सकती।

मधुपान का रिवाज प्रिथीराज के समय काफी प्रचलित था। पुरानी परम्परा के बड़े-बूढ़े तो अफीम का ही सेवन करते थे, पर विदेशियो के प्रभाव से मदिरा का

प्रचलन बढ रहा था। 'दलपत-विलास' नामक ग्रन्थ मे राजकुमारो के मदिरा-पान की बात कही गई है। 'चषक' के प्राचीन वर्णन प्याले की सस्कृति मे नये वेश मे अवतरित हो रहे थे। प्राचीन राजपूत कुलो मे मदिरा त्याज्य समझी गई थी। उदयपुर का राजवश इस गौरव का अधिकारी था। पर बाद म जैसलमेर व मारवाड की राजकुमारियो के परिणय-प्रसगो से वहाँ भी मदिरा का प्रचलन प्रारम्भ हो गया।

कृष्ण क पारिवारिक वर्णन मे सास, ससुर, बहू, पुत्र, पौत्र आदि भारतीय गृहस्थ के अभिन्न अग बनकर आये ही है।

और अन्त मे, 'वेलि' माहात्म्य मे कवि ने धार्मिक श्रद्धा मे अभिभूत हो पौराणिक माहात्म्य वर्णन का अनुकरण करते हुए कृष्ण-रुक्मिणी के इस पवित्र प्रसग को पढने-सुनने से होनेवाले पुण्य की प्राप्ति का बखान किया है। हिन्दू समाज के हर सदस्य की जो-जो कामनाएँ व अभिलाषाएँ हो सकती हैं, उन सभी की पूर्ति वेलि के माहात्म्य म समाविष्ट हो गई हैं। दाम्पत्य-प्रेम की प्राप्ति, कुमारी को वर-प्राप्ति, परिणीता को पुत्र-प्राप्ति, पति का सौभाग्य, पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र की प्राप्ति, अन्न-धन का भडार, सवारी, वश-वृद्धि, आरोग्य सभी प्रकार की विपत्तियो का नाश, सम्पत्ति, दुर्भाग्यनाश, प्रेतबाधा की समाप्ति, मोक्ष-प्राप्ति, गगा-स्नान का फल, आदि सभी प्रकार के लाभ बताये गय है। इनम तत्कालीन समाज की मानसिकता का अनुमान लगाया जा सकता है। उनके अन्धविश्वास भी इस वर्णन से व्यक्त हुए है।

प्रिथीराज क समय की विद्याओ, कलाओ, शास्त्रो, भक्ति-सम्प्रदायो साहित्यिक गतिविधियो, पौराणिक आख्यानो आदि की जानकारी भी उनके काव्य से भली-भाति होती है। नृत्य एव सगीत का जो सामजस्य भक्ति-सम्प्रदाय के आचार-विचारो म हो गया था, उसकी झलक दिखानेवाले कुछ पद उस स्थिति की कल्पना करान मे सहायक है।

डिंगल गीतो मे प्रिथीराज ने धरना देने तथा कठो मे कटार खानेवाले चारणो की निन्दा की है और उन चारण कवियो की प्रशसा, जिन्होने युद्ध मे सम्मिलित होकर शौर्य प्रदर्शित करना ठीक समझा। 'वाई वारै खालिया' कहकर उन्होने दुरसा आढा जैसे कवियो को आडे हाथो लिया है। मगर सादू रामा जैसा की प्रशसा की है, जिन्हाने युद्धभूमि मे जाना श्रेयस्कर समझा—"गयो तू भला, भला तू न गयो, धिन धिन तू सादवाँ धणी।"

वे वीरता के पुजारी थे और क्षात्रधर्म के अनुकूल शौर्य के आराधक। महाराणा प्रताप के प्रति उनके उद्गार उनकी स्वातन्त्र्य-भावना के प्रमाण हैं और उन क्षत्रियो के प्रति तिरस्कारयुक्त, जिन्होने पराधीन होकर अपना मान-सम्मान और मर्यादा विदेशियो को समर्पित कर दी। भले ही, उन्ह स्वय अकबर की सेवा

स्वीकार करनी पड़ी हो, पर कवि-धर्म के नाते उन्होंने अन्य वीरों को प्रेरित करने मे अपने कर्तव्य का निर्वाह किया। महाराजा रायसिंह, जो उनके सगे बड़े भाई थे, तथा रायसिंह के पुत्र महाराजकुमार दलपतसिंह से, प्रिथीराज के सम्बन्ध मधुर न होते हुए भी उन्होंने दोनो को प्रशसा मे गीत लिखे। उसी प्रकार दलपतसिंह के द्वारा युद्ध मे प्रदर्शित बहादुरी का भी बखान किया। अपने समय के अन्य अनेक वीरो को भी प्रिथीराज ने अपनी श्रद्धाजलि दी। 'राजपूती किसी की अपनी नहीं है', यह उक्ति बाद के कवियो मे भी प्रचलित रही है—

जो करसी जिण री हुसी आसी बिन नूतीह।
आ नह किण रा बाप री भगती रजपूतीह॥

इसी भावना से प्रिथीराज ने मुसलमान वीरों द्वारा वीरता प्रदर्शित करने पर भी गीत रचे हैं। शत्रु-दल के वीरों को भी डिंगल कवियो ने अपनी प्रशस्तियो से अभिषिक्त किया है। ऐसा करते हुए उन्होंने किसी प्रकार का भेदभाव या वचन-दारिद्र्य नहीं दिखाया। एक बेलाग कवि से ऐसी ही आशा की जानी चाहिए। प्रिथीराज ऐसे ही एक निष्पक्ष, उदारमना और भावुक-हृदय कवि थे।

भाव-सौष्ठव

प्रिथीराज की प्रमुख रचनाओं मे 'ठाकुरजी व गंगाजी के दूहे', 'साख री कविता' (डिंगल गीत) तथा 'वेलि' ही मानी जाती है। कुछ स्फुट छप्पय, कुडलिया व अन्य पद भी हैं। पर भाव-सौष्ठव की तलाश के लिए तो 'वेलि' ही उपयुक्त स्थल है। भक्ति के दूहे और डिंगल गीत पारम्परिक रीति से ही रचे हुए हैं। उनमें भगवद्-भक्ति, श्रद्धा और आस्था तथा वीर कृत्यों की प्रशस्तियाँ ही हैं। सूक्ष्म भावों के प्रदर्शन की कोई चेष्टा नहीं की गई है। मानवीय सवेदनाओं के प्रसग भी उन काव्यो मे नहीं लाये जा सके है। 'वेलि' मे भी कवि ने अनेक भाँति की काव्य रूढ़ियों के अनुकूल वर्णन किए हैं, जिनमे वर्णनात्मक कौशल के होने हुए भी गूढ भावनाओं का कोई विश्लेषण नहीं मिलता। ऋतु वर्णन, नख-शिख शृगार, युद्ध-वर्णन आदि ऐसे ही प्रसग है, जो अनेक मध्ययुगीन कवियो द्वारा प्रयुक्त हुए हैं। इन वर्णनो मे कोई ऐसा वैशिष्ट्य भी नहीं दिखाई देता, जो प्रिथीराज को महाकवियो की श्रेणी मे पहुँचा सके। पर 'वेलि' मे उन स्थलों की कमी नहीं है, जहाँ कवि अपनी गहन अनुभूतियों को साक्षात् करने मे सफल हुआ है। यहाँ ऐसे ही कुछ प्रसगों की चर्चा अभीप्ट है।

रुक्मिणी की बाल्यावस्था

बाल-क्रीडा करती हुई रुक्मिणी को 'हसशावक' से उपमित करना और 'दो पत्तों की स्वर्ण वेलि' बताना कितना सारगर्भित है।

'बाळकति करि हंस चौ बाळक, कनक वेलि बिहूँ पान किरि।'

हंस की परम्परागत श्रेष्ठता, सुकुमारता और गुणग्राह्यता का तादात्म्य रूपगुणसम्पन्ना बालिका वय की रुक्मिणी के साथ बड़ा सार्थक है। इसी प्रकार कोमलांगी सद्य प्रस्फुटिता वल्लरी से भी उसकी उपमा बड़ी फबती है। कनक वेलि कह कर उसकी कंचनाभ देह की ओर इंगित करना भी कवि की विशेषता है।

वय सन्धि

स्त्रियों के जीवन में यह अवस्था विशेष, जब निर्द्वन्द्व और निरीह बाल्यावस्था यौवन की देहरी पर आकर खड़ी होती है, उस रहस्यलोक की तरह अज्ञात, रोमांचक और आकर्षक प्रतीत होती है, जिसका हर क्षण एक अनबूझ पहेली की तरह विस्मय, कौतूहल और अस्फुट माधुर्य की सृष्टि करता रहता है। अनेक सिद्ध-हस्त कवियों ने उस मनोदशा का चित्रण करने की असफल चेष्टाएँ की हैं। प्रिथीराज ने उस अवस्था को उस स्वप्नावस्था के समान बताया है, जिसमें शैशव सुषुप्ति में चला गया है और यौवन अभी जागृत नहीं हुआ है पर अब पल-पल यौवन का प्रथम ज्ञान बढ़ता ही जाएगा—

> सैसव तनि सुखपति, जोवण न जागृति, वेससंधि सुहिणा सुंदरि।
> हिव पळ-पळ चढतौ जि होइसै, प्रथम ज्ञान एहवौ परि॥

यद्यपि अवस्थाओं का यह विभाजन उचित-सा ही प्रतीत होता है, पर ऐसी कोई स्पष्ट व्याख्या कदापि सम्भव नहीं है। वय सन्धि की स्वप्नावस्था में भी रोमांचक रहस्य का जो मन्द मधुर कुहरा छाया रहता है और नयनाभिराम इन्द्रधनुषी छवियाँ रह-रह कर झलकती रहती हैं, उनका चित्रण मात्र 'स्वप्न' कहने से नहीं होता। इस कमी को प्रिथीराज ने आगे की पंक्तियों में पूरी करने का प्रयत्न किया है। रुक्मिणी के मुख की लालिमा मानो उषाकाल की रक्तिमा है और उसके उठते हुए कुच सध्यावंदन करते हुए ऋषि। गाथा सप्तशती में हाल कवि ने इन कुचों की श्यामवर्णता को गाय-बैल आदि के सिर पर फूटती हुई 'सींग' की श्यामलता से उपमित किया है, जिससे पशु को एक हलकी खुजलाहट का सा आभास होता है। उठती हुई युवावस्था से उसके हृदय में बेचैनी बढ़ती जा रही है और बचपन का साथ बिछुड़ते हुए वह मन-ही-मन बिलख रही है। माता पिता के सामने गुड़ियों से खेलते हुए भी उसे अपने उठते हुए कुचों को छिपाने के लिए लज्जा करते हुए भी लज्जा आती है। यही वह स्थल है, जहाँ प्रिथीराज ने अपनी सूक्ष्मतम अनुभूति को प्रकट किया है—

> आगळि पित मात रमन्ती अगणि, काम विराम छिपाडण काज।
> लाजवती अंगि एह लाज विधि, लाज करती आवै लाज॥

रुक्मिणी की आतुरता

जब रुक्मिणी का भेजा हुआ ब्राह्मण द्वारिका से लौट कर आता है तो निकट आते हुए उसके मुख की ओर देखती हुई रुक्मिणी की व्यग्रता की अनुभूति कवि ने बहुत सुन्दर ढंग से की है। उसमें चिन्ता, प्रतीक्षा आतुरता, लज्जा, शका आदि अनेक मनोभावों के बीच झूलते हुए रुक्मिणी के मन का सही चित्र खीचा गया है। उसका चित्त ब्राह्मण को देखते ही पीपल के पत्ते की तरह कांपने लगता है। सखियों की उपस्थिति के कारण वह न तो स्पष्ट रूप से उससे पूछ सकती है और न पूछे विना रह ही सकती है। इसलिए अनुमान लगाने के लिए उसकी मुखाकृति की ओर ही देख रही है—

चळपत्र पत्र थियौ दुज दखे चित्त, मर्के न रहति न पूछि सकन्ति।
औ आवै जिम-जिम आसन्नो, तिम तिम मुख धारणा तर्कन्ति॥

नख-शिख वर्णन

यह प्रसग पारम्परिक होते हुए भी इसमे अनेक स्थानो पर नई उद्भावनाएँ की गयी है, जो बड़ी फबती बन पड़ी है। स्नानान्तर केशो को धूप मे सुखाने के लिए फैलाने मे भाव को मनरूपी मृग को फँसाने के लिए फैलाए गए कामदेव के जाल से उपमित करना बडा सटीक बन पड़ा है

लागी विहु करे धपणै लीधै केसपास मुगता करण।
मन मृग घे रारणी मदनची, वागुरि जाणे विसतरण॥

इसी प्रकार, काजल लगे अनियारे सजल नेत्रो और कानो म पहन कुण्डल को लेकर सिकलीगर द्वारा शाण पर चढाकर, जल डाल डालकर तीखे बनाये जानेवाले अस्त्र की उपमा भी बहुत सुन्दर है। नख शिख वर्णन म अन्य रूपक भी सागोपाग बन पडे हैं, यद्यपि उनमें भावो की गहराई न होकर उक्ति का चमत्कार भर ही है।

पालकी मे बैठी रुक्मिणी

देव-दर्शन के लिए पालकी म बैठकर जाती हुई सखियो से घिरी रुक्मिणी को लज्जा से आवृत साक्षात् शील ही बताकर कवि ने बडी मार्मिक उपमा दी है। ऐसे ही वे स्थल हैं, जहाँ प्रिथीराज की स्वाभाविक प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है—

चकडोळ लगे इणि भाति सुचाली, मति तै वाखाणण न मू।
सखी समूह माहि इम स्यामा, सीळ आवरित लाज सू॥

मूर्च्छाग्रस्त सैनिक

रुक्मिणी के भरपूर रूप-शृंगार में उन्मादक यौवन को देखकर मूर्च्छित सैनिक ऐसे प्रतीत हुए मानो देवालय बनाते समय ही ये मूर्तियाँ भी गढ़ी गई थीं। देवालय के प्रसंग में सैनिकों की अवस्था का यह चित्रण भी कवि-कौशल की एक उत्कृष्ट बानगी बन गया है—

मन पगु थियो सहु सेन मूर्छित, तठ सह रही संपेखतै ।
किरि चीतारो तदि निकुटो ए, मठपूतळी पाषाणमै ॥

मिलन-रात्रि की पूर्व संध्या में रुक्मिणी का मनोभाव

नवविवाहिता रुक्मिणी के मन में प्रिय-समागम की मधुयामिनी से पूर्व जो हर्ष, संकोच, लज्जा, आतुरता आदि की विचित्र अवस्था थी, उसके संकोच-पक्ष को एक हलके उपमाओं की एक झड़ी-सी लगाकर प्रस्तुत की गई है। इस संकोच में लज्जा का मनोहारी रूप ही समाया हुआ है—

संकुडित समसमा संध्या समयै, रति वंछिति रुकमणि रमणि ।
पथिक वधू दिठि पंख-पंखिया, कमळ पत्र सूरिज किरणि ॥

संध्या समय जैसे सूर्य की किरणें, विकसित कमल की पंखुड़ियाँ, घोंसले के पास लौटकर जाते हुए पक्षी के पंख और प्रवासी पति की बाट जोहती हुई विरहिणी के नयन सिमटने लगते हैं, वैसे ही रति की प्रतीक्षा में होते हुए भी रुक्मिणी का मन स्वाभाविक लज्जा के कारण सिकुड़ा जा रहा था। यहाँ कवि ने जिस वातावरण का सृजन किया है, वह विषय के साथ एकाकार होता जान पड़ता है। विरहिणी नायिका, घर लौटते पक्षी, मुंदते कमल, अस्त होता सूर्य और प्रथम मिलन की प्रतीक्षा में बैठी संकुचिता नायिका सभी एक-दूसरे के भाव पोषक बन गए हैं।

इसी प्रसंग में आगे जाकर रति-गृह की ओर, पग-पग पर सखियों द्वारा सहारा दिया जाकर, मन्द गति से ले जाई जाती हुई रुक्मिणी के लज्जा-भाव को लंगर डाले हुए हाथी से उपमित करना भी वीर-शृंगार का अद्भुत मिश्रण है। राजपूती जीवन में ऐसी उपमाएँ दी जानी स्वाभाविक ही थी।

अवलम्बि सखी कर पगि पगि ऊभी, रहती मद वहती रमणि ।
लाजलोह लंगरे लगाए, गय जिमि आणी गयगमणि ॥

रत्यन्त में रुक्मिणी

उसका मुख पीला पड़ गया, चित्त में व्याकुलता हुई, हृदय धक्-धक् करने लगा और थकावट का आभास हुआ। उसने लज्जा से नेत्र मूंद लिये और पैरों को

नूपुर-ध्वनि तथा कण्ठो के कोकिल-वैन भुलाकर वह निःशब्द बन गई। इस चित्र मे भी दैहिक और मानसिक दशा का हू-ब-हू चित्र खीचा गया है। प्रिथीराज के जीवन म ऐसे अनेक प्रसग आए होग, जिनका सूक्ष्म निरीक्षण इन थोडे से शब्दो मे बडी कारीगरी से जडकर रख दिया गया है—

> स्रो वदन पीतता चित व्याकुलता, हियै धगधगी खेद हुइ।
> धरि चख लाज पगे नेउर धुनि, करे निवारण कठ कुह॥

ऋतु-वर्णन

ऋतु-वर्णन अलकार-प्रधान होते हुए भी उसमे कही-कही ऐसे स्थान हैं, जहाँ कवि कुछ गहरे उतरकर सूक्ष्म भावनाओं को व्यक्त कर पाया है। शरद ऋतु मे दीपावली के पर्व पर घरो मे जगमगाते हुए दीपको की ज्योति भीतर होते हुए भी बाहर ऐसी झलकती है मानो समवयस्का सखियो से घिरी नायिका के मुख से सौभाग्य झलकता हो—

> दीधा मणि मन्दिरे कातिग रे दीपक, स्त्री समाणियाँ माहि सुख।
> भीतर थका बाहिर इस भासै, मनि लाजती सुहाग मुख॥

प्राचीन डिंगल काव्य म ऐसा दूसरा कवि मिलना दुष्कर है, जो प्रिथीराज की समकक्षता मे भाव जगत् को इस प्रकार तरगित करने म समर्थ रहा हो। प्रिथीराज के काव्य मे ऐसे स्थल भले ही विरल हो, पर ये ही उन्ह डिंगल के श्रेष्ठ कवि के रूप मे प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त हैं।

भक्ति भावना

प्रिथीराज के आराध्य कृष्ण थे। कृष्ण की बाल-लीलाओ और पराक्रमो का गुणानुवाद उन्होने अनेकश किया है। यद्यपि एक आस्तिक हिन्दू के नाते राम, शिव, देवी आदि अन्य देवी-देवताओं के प्रति भी उनकी आस्था और श्रद्धा उच्च कोटि की ही थी, पर कृष्ण के जीवन को उन्होंने अपने मन के अधिक अनुकूल पाया। राम का एकपत्नीव्रत तथा दूसरी सामाजिक और पारिवारिक मर्यादाएँ श्रेष्ठ होते हुए भी प्रिथीराज की स्वय की परिस्थितियो के अनुकूल नही थी। दूसरे, उस समय राजस्थान मे कृष्ण-भक्ति का प्रचार भी अधिक था। राम से सम्बन्धित तीर्थ-धामो की तुलना म कृष्ण के लीला धाम—वृन्दावन, मथुरा, द्वारिका—अधिक जान-पहचान और सन्निकट भी थे। कृष्ण-भक्ति मे जो माधुर्य-भाव, जो स्वच्छन्दता तथा शृगार-वीर का जो सामजस्य था, वह एक राजकुलोत्पन्न क्षत्रिय कवि को अधिक रुचिकर लगता, यह स्वाभाविक ही था। इसलिए प्रिथीराज ने उस कृष्ण को ही अपना आराध्य बनाया। राजस्थानी आदर्शों की मर्यादा म पले हुए प्रिथीराज को कृष्ण राधा का प्रेम-प्रसग, भले ही उसकी दार्श-

निक व्याख्या की गई हो, सासारिक रूप मे इतना उचित नही लगा, जितना विवाहिता रुक्मिणी का प्रसग। सम्भवत यही कारण है कि राजस्थान मे कृष्ण-रुक्मिणी के विवाह को ही मान्यता प्राप्त है, और कुलीन स्त्रियाँ इसी प्रसग को पढ़ती-सुनती आई हैं।

कृष्ण के प्रति प्रिथीराज की भक्ति न तो सखाभाव की है, न प्रिय-प्रियतमा भाव की और न ही दास्य भाव की। शायद इनमे से कोई-सा भी रूप उन्हें नही रुचा। इसलिए विशुद्ध समर्पण भाव की भक्ति ही उनके काव्य मे प्रकट होती है। यह समर्पण भी एक कवि का एक सर्वशक्तिमान सत्ता के प्रति है। यह बात उन्होंने अनेक बार प्रकट की है। उन्होंने कहा है कि मैं इतने दिनो व्यर्थ ही मानव-प्रशस्ति मे लगा रहा और परम सत्ता को नही पहचान पाया—

प्रथि हरि तजि गुण मानवाँ, जोडे किया जतन्न।
जाणि चिनभ्रम बधिया, गठ गादडा रतन्न॥
प्रिथु ज मैं अवरा पुणे, गुण छडे गोपाळ।
माणक गुथ मोताहळा, मड गळि घाती माळ॥

इसी भाव को एक छप्पय मे भी प्रकट किया गया है—

हू ऊजड हालियो, वार आसन्नी हूती।
म्है कोहोर सीचियौ, तीर सुरसरी वहती॥

इस कथन मे कवि द्वारा की गई मानव-प्रशस्तियो के लिए पश्चात्ताप की भावना झलकती है। इसी मनोदशा के बाद सम्भवत उन्होंने भक्ति-विषयक रचनाओ मे मन लगाया।

'वेलि' मे यद्यपि कवि ने कथा कहते हुए काव्य-सृजन किया है, पर अनेक पात्रो के मुख से अपने स्वय के श्रद्धा-सुमन भी आराध्य को समर्पित किए हैं—

वदनारविंद गोविंद वीखियै, आलोचै आप-आप सू।
हिव रुखमणि कृतारथ हुइस्यै, हुऔ कृतारथ पहिलौ हू॥

गोविन्द के मुखकमल को देखकर ब्राह्मण का यह आत्मालोचन है कि रुक्मिणी तो इनके दर्शन म बाद में कृतार्थ होगी, मैं तो पहले ही हो गया हूँ। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ ब्राह्मण वेश म प्रिथीराज ही कृतार्थ हो गए हैं।

कृष्ण के उद्धारक रूप की स्तुति ही प्रिथीराज ने की है। इसी उद्धारक और मोक्षदायक रूप मे उन्होने गगा तथा गगाजी को भी देखा है। इसीलिए उन्ही पौराणिक प्रसगो के दृष्टान्त स्थान-स्थान पर दिये हैं, जिनमे उस रूप की पुष्टि होती है। प्रिथीराज की सबसे बडी विशेषता यह रही है कि उन्होंने एक ही आराध्य मे सभी शक्तियो को समन्वित रूप मे देखा है। कृष्ण का विष्णु रूप स्थान-स्थान पर वन्दित हुआ है—

पग पाताळि पइट्ठ, मायो ब्रह्मड ले मिळे।
दाणव अहवो दिट्ठ, वामण वसदेरावउत ॥

विष्णु रूप के इन करतबो मे राम, कृष्ण का भेद मिटाते हुए उन्होंने कहा है—

श्रीभागवत सु भेद, भारथ रामायण भळे।
ब्रजपति तू जस वेद, वाचै वसदेरावउत ॥

कृष्ण-लीला के प्रसगो का ही मुख्य गान करते हुए भी इस प्रकार के विभेद को न देखना कवि के अतर्मन की आस्था प्रकट करता है। दार्शनिक ऊँचाइयों पर पहुँचकर कवि ने कहीं-कहीं तो एक सर्वव्यापी सत्ता का ही आभास दिया है—

तू कोमळ तू कठिण तूहिज मनहर मनरञ्जण।
तू अतृपत तू तृपत तू हिज वेकल्ल विचख्खण ॥
तू पुरजण तू सजण तू हिज जोवण जर आमति। × × ×
अधार तू हिज उद्योत तू तू हिज हेक त्रिभुवण तळे ॥

प्रिथीराज की इस भक्ति-भावना की तह मे अगाध श्रद्धा तथा समर्पण की भावना सर्वत्र व्याप्त है—

आतम काया आथि, मनछा वाचा करमणा।
हरि मैं तारै हाथ, वेच्या वसदेरावउत ॥

(हे हरि, मैंने आत्मा, काया, सम्पत्ति सभी को मन, वचन, कर्म से तुम्हारे हाथ बेच दिया है।)

प्रिथीराज की भक्ति की एक और विशेषता उनका सन्यस्त और वैराग्य भाव भी है। उनके काव्य में समर्पण के इर्द-गिर्द एक और झीना आवरण है, जिसमे उनकी निस्पृहता, अन्यमनस्कता, निर्लिप्तता, सभी वैराग्य के घेरे मे समाती दृष्टिगोचर होती है। अपने पिता की मृत्यु पर कहे गये उनके मार्मिक गीत की पक्तियाँ इन भावो को बखूबी प्रकट करती है—

खाटी सो दाटी घर खोदे, साथ न चाली हेक सिळी।
पवनज जाय पवन विच पैठो माटी माटी माह मिळी ॥

(जो उपार्जित किया, वह जमीदोज कर दिया, एक तिनका भी साथ नही चला। पवन पवन मे और मिट्टी मिट्टी मे मिल गई।)

विरक्ति की प्रेरक ऐसी ही पक्तियाँ लिखने के बाद कवि ने आत्म-समर्पण का निर्णय लिया होगा। उन्होने अनुभव किया कि उस परम सत्ता के आगे किसी का वश नही है। तभी अन्तर्मन की पुकार गीत बनकर फूट पडी—

हरि जेम हलाडो तिम हालीजै, काई धणिया सू जोर कृपाळ।
मोळी दिवौ दिवौ छन मार्थं, देवो सो लेवू स दयाळ ॥

(हे हरि, जिस प्रकार आप चलायें, उसी प्रकार चलना है, आपके आगे क्या जोर

है। भले ही सिर पर 'पोतिया' रखो या छत्र, जो दोगे वही स्वीकार है।)

इस समर्पण के पीछे विवशता है और वही मानवी विवशता भक्ति में परिवर्तित हुई है। विवशता के चित्र भी खूब है—

'चीतारो खर सोस चित्र दे, काई पुतळिया पाण करै।'

(यदि चित्रकार पूतली को गधे पर बैठी हुई चित्रित कर दे तो पूतलियाँ क्या कर सकती है।—ऐसी ही स्थिति मानवो की है, जिन्हे परमात्मा किसी भी स्थिति में रख दे तो व कुछ नही कर सकते।)

इसी विवशता-जन्य समर्पण में समाई भक्ति ने कवि को विनय-भाव दिया है, जिसका उल्लेख बार-बार किया गया है। वेलि के प्रारम्भ और समाप्ति दोनों ही स्थानों पर यह विनम्रता प्रकट हुई है—

जिणि दीध जनम जगि मुखि दे जीहा।
क्रिसन जु पोखण भरण करै॥
कहण तणौ तिणि तणौ कीरतन।
स्रम कीधा विणु केम सरै॥

(जिसने मुंह में जीभ देकर ससार में उत्पन्न किया है तथा जो कृष्ण ही भरण-पोषण भी करता है, उसका यशगान किये बिना कैसे रहा जाए ?)

तू तणै अनै तू तणी तणा री।
केसव कहि कुण सकै क्रम॥
भलो ताइ परसाद भारती।
भूडो ताइ माहरी भ्रम॥

(हे केशव ! तेरा और तेरी पत्नी का बखान कौन करने मे समर्थ है ! मैंने जो किया है, उसमे जो अच्छा लगे वह तो सरस्वती की कृपा है। और जो बुरा है, वह मेरे अज्ञान के कारण है।)

कृतित्व : एक मूल्याकन

कवि के रूप मे प्रिथीराज के कृतित्व का मूल्याकन करते समय उनके देश-काल का ध्यान रखना आवश्यक है। आज की परिस्थितियो और साहित्यिक मूल्यो को सामने रखकर उस पर विचार करना उचित नही होगा। जिस समय अधिकाश डिंगल कवि परम्परागत तरीके और रूढियो मे जकडे वर्णनो मे ही रचना की इतिश्री समझते थे, उस समय प्रिथीराज की 'वेलि' की रचना निस्सन्देह एक अभिनन्दनीय प्रयास माना गया था। तभी तो पारम्परिक ईर्ष्या के बीच पलते हुए कवियो ने मुक्त कण्ठ से 'वेलि' की स्तुति की थी। 'वेलि' की सस्कृतनिष्ठ भाषा और उसे डिंगल के साँचे मे ढालने की चतुराई प्रिथीराज की बहुत बडी विशेपता बन गई है। उससे उनके पाण्डित्य का भी सम्यक् आभास होता है। तत्कालीन

व्यक्ति-समाज में इस उच्च स्तर की शिक्षा-दीक्षा की सुविधाएँ बहुत कम लोगों को ही उपलब्ध हो सकती थीं।

एक उच्च कुल के राजवंश में जन्म लेने के कारण प्रिथीराज को जीवन के नानाविध रूपों, भोग-विलास के साधनों, युद्धों की विभीषिकाओं, जीवन के संघर्षों, स्त्री-समाज की गतिविधियों और अन्य अनेक प्रसंगों को निकटता से देखने के अवसर प्राप्त हुए थे। वे ही अनुभव उनके काव्य को उच्च स्तर पर ले जाने में सहायक हुए हैं। संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि से परिचित होने के अवसर और ज्ञान विज्ञान तथा धर्म दर्शन आदि के आचार्यों से ज्ञानार्जन करने का सौभाग्य भी उन्हें मिला था। पर इन सबके होते हुए भी एक कवि का हृदय प्राप्त करना तो भगवद् भक्ति से ही सम्भव था। प्रिथीराज पर वह कृपा हुई थी।

उनकी भक्ति के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। लोगों ने यहाँ तक प्रशस्ति की है कि प्रिथीराज के रूप में स्वयं नारायण ने ही 'वेलि' का प्रणयन किया था। यह अगाध श्रद्धा-जन्य भक्ति हृदय को एकाग्रता और विश्वासों की दृढ़ता प्रदान करती है। यही एकाग्रता और दृढ़ता काव्य-रचना के लिए भी आवश्यक है। काव्य व्यक्ति के विश्वासों और उसकी मान्यताओं का भावना और कल्पनाबद्ध प्रकटीकरण ही है। इसीलिए प्रिथीराज के काव्य में भावनाओं की गहनता स्थान-स्थान पर पाई जाती है।

युग के अनुकूल रूढ़ियों और परम्पराओं से बचना प्रिथीराज के लिए भी सम्भव नहीं था। इसलिए रूढ़िगत वर्णन भी उन्होंने किये हैं, पर उनमें अपने काव्य-कौशल से कवित्व-वैचित्र्य का पुट देकर उन्होंने कुतूहल की सृष्टि कर दी है। भाषा के माध्यम से उन्होंने अनेक मोहक चित्र उपस्थित किये हैं। शायद इसी कारण चित्रकारों ने 'वेलि' को अपने चित्रों के लिए उपयुक्त पाया। वेलि की सचित्र प्रतियाँ 'गीत गोविन्द' और 'ढोला मारवण' की चित्र-मालाओं की तरह प्रस्तुत की गई थीं।

डिंगल गीतों और स्फुट दूहों में कवि अन्य सामान्य कवियों के स्तर पर ही रह जाता है। एक भक्त के मुख से निकलने के कारण भी दूहों में गुणानुवाद के अतिरिक्त और क्या हो सकता था? तभी तो इन दूहों का लोग स्तोत्रवत् पाठ करते हैं। हाँ, गीतों में उनकी प्रतिभा थोड़ी मुखर हुई है। वैराग्य के कुछ गीत और राणा प्रताप के लिए लिखा गया प्रसिद्ध गीत व्यक्तिगत भावनाओं का उत्कृष्ट रूप में प्रकट हुआ है। एक श्रेष्ठ कवि, आदर्श भक्त और क्षत्रियोचित शौर्य के धनी के रूप में प्रिथीराज का व्यक्तित्व डिंगल साहित्य में सर्वदा अभि-नन्दनीय रहा।

रचनाओ मे चुने हुए अंश

क्रिसन रुक्मिणी री वेलि से कुछ चुने हुए छद

मगलाचरण

परमेसर प्रणवि प्रणवि सरसति पुणि, सद्गुरु प्रणवि त्रिण्हे ततसार।
मगळ रूप गाइजै माहव, चार सु एही मगळचार॥१॥
आरभ मै कियौ जेणि उपायौ गावण गुणनिधि हूँ निगुण।
किरि कठचित्र पूतळी निजकरि, चीत्रारै लागी चित्रण॥२॥
कमळापति तणी कहेवा कीरति, आदर करे जु आदरी।
जाणे वाद माडियौ जीपण, वागहीण वागेसरी॥३॥
जिणि सेस सहसफण, फणि फणि बिबिजिह, जीह जीह नव नवौ जस।
तिणि ही पार न पायौ त्रीकम, वयण डेडरा किसौ वस॥४॥
जिणि दीध जनम जगि मुख दे जीहा, क्रिसन जु पोखण भरण करै।
कहण तणौ तिणि तणौ कीरतन, स्रम कीधा विणु केम सरै॥५॥
सुकदेव व्यास जैदेव सारिखा, सुकवि अनेक ते एक सथ।
स्रीवरणण पहिलौ कीजै तिणि, गूथियै जेणि सिंगार ग्रन्थ॥६॥

बाल्यावस्था

रामाअवतार नाम ताइ रुखमणि, मानसरोवरि मेरगिरि।
बालकति करि हस चौ बाळक, कनकवेलि बिहु पान किरि॥७॥
अनि वरसि वधै ताइ मास वधै ए, मास वधै ताइ पहर वधन्ति।
लखण बत्रीस बाळलीलामै, राजकुअर डूलडी रमन्ति॥८॥

वय सधि

पहिलौ मुखराग प्रगट थ्यो प्राची, अरुण कि अरुणोद अबर।
पेख किरि जाणिया पयोहर, सध्या वदण रिखेसर॥९॥

जम्प जीव नहो आवतौ जाणे, जोवण जावणहार जण।
बहु विलखी वीछडती वाळा, वाळसघाती वाळपण ॥१०॥
आगाळि पित-मात रमती अगणि, काम-विराम छिपाडण काज।
लाजवती अगि एह लाज विधि, लाज करती आवै लाज ॥११॥

यौवनागम

वधियार तनि सरवरि वेस वधती, जोवण तणौ तणौ जळजोर।
कामणि करग सु धाण काम रा, दोर सु वरुण तणा किरि डोर ॥१२॥
कामणि कुच कठिन कपोळ करी किरि, वेस नवी विधि वाणि वखाणि।
अतिस्यामता विराजति ऊपर, जोवण दाण दिखाळिया जाणि ॥१३॥
ऊपरि पदपलव पुनर्भव ओपति, त्रिमळ कमळदळ ऊपरि नीर।
तेज कि रतन कि तार कि तारा, हरिहस, सावक ससिहर हीर ॥१४॥

शिक्षा

व्याकरण पुराण समृति सासत्र विधि, वेद च्यारि खट अग विचार।
जाणि चतुरदस चोसठि जाणी, अनत अनत तसु मधि अधिकार ॥१५॥

वरकामना

साभळि अनुराग थयौ अति स्यामा, वर प्रापति वच्छती वर।
हरि गुणभणि, ऊपनी जिका हर, हर तिणि वदे गवरिहर ॥१६॥

रुक्मिणी-हरण तक का कथा प्रसग

प्रभणन्ति पुत्र इम मात-पिता प्रति, अम्हा वासना वसी इसी।
ग्याति किसी राजविया ग्वाळा, किसी जाति कुळ पाति किसी ॥१७॥
प्रभणे पित-मात पूत मत पातरि, सुरनर नाग करे जसु सेव।
लिखमी समी रुकिमणी लाडी, वासुदेव सम सुत वसुदेव ॥१८॥
आगमि सिसुपाळ मडिजै ऊछव, नीसाणे पडती निहम।
पटमडप छाइजै कुदणपुरि, कुदणमै वाधे कळस ॥१९॥
राजान-जान सगि हुता जु राजा, कहे सु दीघ ललाटि कर।
दूरा नयर कि तोरण दीसे, धवळागिरि किना धवळहर ॥२०॥
जाळी मगि चढि-चढि पथी जोवै, भुवणि सुनन मन तसु भिळित।
लिखि राखे सागळ नखलेखणि, ससिबाळ आसू मिळित ॥२१॥
मम करिसि ढील, हिव हुए एकमन, आइ जादवा-इद्र जत्र।
माहरै मुखि हुता ताहरै मुखि, पगवदण करि देइ पत्र ॥२२॥

गई रवि किरण ग्रहे थई गहमह, रहरह कोइ वह रहे रह।
सुज दुज पुरा नीसरे सूतो, निसा पडी चालियो नह ॥२३॥
पणिहारि पटळदळ, वरण चपकदळ, कळस सीस कटि कर कमळ।
तीरथि तीरथि जगम तीरथ, विमळ ब्राह्मण जळ विमळ ॥२४॥
कस्मात् कस्मिन् खिल मित्र विमर्श, केन कार्यं परियासि कुत्र।
ब्रहि जनेन यन भो ब्राह्मण, पुरमो म प्रेषितम् पत्र ॥२५॥
आणद लखण रोमाचित आमू वाचन गदगद, कठ न कणै।
कागळ करि दीधो करुणाकरि, तिणि तिणि होज ब्राह्मण तणै ॥२६॥
वळिवधण मूझ स्याळ सिघ बळि, ग्रासै जो बीजो परणै।
कपिल धेनु दिन पात कमाई, तुळसी करि चाडाळ तणै ॥२७॥
सुग्रीवमेन नै मेघपुहुप, समवेग बळाहक इमै वहन्ति।
खति लागौ त्रिभुवनपति खेडै, धर गिरि पुर साम्हा धावन्ति ॥२८॥
चळरथ पत्र थियो दुज देखे चित, सकै न रहनि न पूछि सकन्ति।
ओ आवै जिम जिम आसन्नो, तिम तिम मुख धारणा तवन्ति ॥२९॥
राणी तदि दूत्री दीघ रुखमणी, पति मुख पूछि पूछि परिवार।
पूजा व्याज काज प्री परमण, स्यामा आरभिया सिणगार ॥३०॥
कुमकुमै मजण करि धौत वसत धरि चिहुरे जळ लागौ चुवण।
छीणे जाणि छछोहा छूटा, गुणमोती मखतूल गुण ॥३१॥
अणिपाळा नयण घाण अणिपाळा, सजि कुडळ खुरमाण सिरि।
वळे बाह्र दे मिळी-गिळी वरि काजळ-जळ वाळियो किरि ॥३२॥
ज्यू सहरी भ्रूह नयणमृग जूता, विसहर रासि कि अलकवक्र।
वाळी किरि वाकिया विराजै, चद रथी ताटक चक्र ॥३३॥
सिणगार करे मन कीधौ स्यामा, दखितणा देहरा दिसि।
होड छडि चरणे लागा हस, मोती लगि पाणही मिसि ॥३४॥
चकडोळ लगै इण भाति सु चाली, मति दै वाखाणण न मू।
सखी समूह माहि इम स्यामा, सीळ आवरित लाज सू ॥३५॥
आकरपण वसीकरण उनमादक, परठि द्रविण सोखण सर पच।
चितवणि हसणि लसणि गति सकुचणि, सुदरि द्वारि देहरा सच ॥३६॥
नन पगु थियो सहु सेन मूरछित, तह नह रही सपेखतै।
किरि नीपायो तदि त्रिकुटीए, मठपूतळी पाखाणमै ॥३७॥
वळिवध समरथि रथ ले वैमारी, स्यामा कर साहे मुकरि।
वाहर रे वाहर कोइ छै वर, हरि हरिणाखी जाइ हरि ॥३८॥

युद्धवर्णन

अपूडी रजो मझि अरक एहवौ, वातचक्र मिरि पत्र वसन्ति ।
सद नीहस नोसाण न सुणिजै, वरहासा नासा वाजन्ति ॥३६॥
चिळकुळियौ वदन जेम वावार्‌यौ, सग्रहि धनुख पुणच सरसधि ।
क्रिसन रुक्म आउध छेदणकजि, वेलग्नि अणी मूठि द्रिठि वधि ॥४०॥

द्वारिका का प्रसग

मुकुरमै प्रोळि प्रोळिमै मारग, मारग सुरग अबीरमई ।
पुरि हरि सेन एम पैसार्‌यौ, नीरोवरि प्रविसति नई ॥४१॥

विवाह

पधराविं श्रिया वामै प्रभणावे, वाच परसपर यथाविधि ।
लाधी वळा मागी लाधी, निगम पाठवे नवे निधि ॥४२॥

शयनगृह

मदिरतरि किया खिणतरि मिळिवा, विचित्रे सखिए समावृत ।
कीजै तिणि वीवाह ससत्रित, करण सुतणु रति ससनित ॥४३॥

सध्यावर्णन

सकुडित समसमा सध्या समयै, रतिवछिति रखमणि रमणि ।
पथिक वधू द्रिठ पख पखिया, कमळपत्र सूरिज किरणि ॥४४॥

रतिक्रीडा

एकन्त उचित क्रीडा चौ आरभ, दीठौ सु न विहि देवदुजि ।
अदिठ अश्रुत किम कहणौ आवै, सुख त जाणणहार सुजि ॥४५॥

प्रभातवर्णन

वाणिजा वधू गोवाछ असइ विट, चोर चकवा विप्र तीरथ वेळ ।
सूर प्रगटि एतला ममपिया, मिळियाँ विरह, विरदहिया मेळ ॥४७॥

ऋतुवर्णन

कसतूरी गारि कपूर ईंट करि, नवै विहाणै नवो परि ।
कुसुम कमळ दळ माळ अलनित, हरि कीडै तिणि घवळहरि ॥४८॥
काळी करि काठळि ऊजळ कोरण, धारे श्रावण धरहरिया ।
गळि चालिया दिसोदिसि जळग्रभ, थभि न विरहिण नयण थिया ॥४६॥

काजळ गिरि धार रेख काजळ करि, करि मेखळा पयोधि कटि।
मामोलो बिन्दुलो कुकुमें, पृथिमी दीध निलाट पटि ॥५०॥

पीळाणी धरा ऊगधी पावी, सरदि काळि एहवो सिरी।
कोकिल निगुर प्रभेद ओमरण, सुरति अति मुग्ध जिम गुरी ॥५१॥

छवि नवि नवि नवनवा महोच्छव, मंडियै जिणि आणदमई।
कातिग घरि-घरि द्वारि कुमारी, थिर चीतति चित्राम थई ॥५२॥

उळझाया तनमन आप आपमें, विहन सीत रुखमिणी वरि।
वाणि अरथ जिम सकति सकतिवत, पुहपगध गुण गुणी परि ॥५३॥

वीणा डफ महुयरि वस वजाए, रोरी करि मुग्ध पचम राग।
तरुणी तरुण विरहिजण दुतरणि, फागुण घरि घरि मेलै फाग ॥५४॥

दस मास समापित गरभ दीध रित, मनव्याकुल मधुकर मुणणति।
कठिण वेपणि कोकिल मिस कूजति, वनसपती प्रसवती वसति ॥५५॥

तरली नदि नदि ऊतरतो तरितरि, वेलिवेलि गळिगळै विलग्ग।
दखिण हूत आवतो उतर दिसि, पवन तणा तिणि वहै न पग्ग ॥५६॥

पुत्रजन्म

वसुदेव पिता सुन थिया वासुदे, प्रदुमन सुतपित जगतपति।
सासू देवकी रामा सुवहु, रामा सासू वहू रति ॥५७॥

माहात्म्य

परिवार पूत पोत्रे पड़पोत्रे, अरु साहण भडार इम।
जग रुखमिणि हरि वेलि जपता, जगपुडि वाधै वेलि जिम ॥५८॥

वेलिरूपक

वल्ली तसु बीज भागवत वायो, महिथाणो प्रिथुदास मुख।
मूळ ताल जड अरथ मडहे, सुथिर करणि चढि छाह सुख ॥५९॥

पत्र अक्खर दळ द्वाळा जस परिमळ, नवरस तनु त्रिधि अहोनिसि।
मधुकर रसिक सु भगति मजरी, मुगति फूल फळ भुगति मिसि ॥६०॥

कविकथन

भाषा संस्कृत प्राकृत भणता, मूझ भारती ए मरम।
रसदायिनी सुदरी रमता, सेज अतिरिख भूमि सम ॥६१॥

ज्योतिषी वैद पौराणिक जोगी, संगीती तारकिक सहि।
चारण भाट सुकवि भाखा चत्र, करि एकठा तो अरथ कहि ॥६२॥

हरिजस रस साहस करे हालिया, मो पडिता वीनती मोख।
अम्हीणा तम्हीणे आया, श्रवण तीरथे वयण सदोख ॥६३॥
रूप लखण गुण तणा रुखमिणी, कहिवा सामरथीक कुण।
जाइ जाणिया तिसा मैं जपिया, गोविंद राणीतणा गुण ॥६४॥

वसदेरावउत रा दूहा

मथरा नगर मझार, तट आयो जमुना तणै।
बाळा तिणि बलिहार, वेळा वसदेरावउत ॥१॥
रथ वणियो पखराव, वामै अग राधा वणी।
विच ताहरो बणाव, वणियो वसदेरावउत ॥२॥
तो आगैं तरुआरि, नाखे हरि नमिया नहीं।
हार्‌या आगळि हार, व्हैसी वसदेरावउत ॥३॥
माहरी थयी मुरार, गोविंद सो लागी गुणै।
सुक्यारथो ससार, वाणी वसदेरावउत ॥४॥
गाया नह गोपाळ, धीवर तो नाया सरणि।
केमव गयो ज काळ, विथा स वसदेरावउत ॥५॥
गोपवधू गोपाळ, लागी गळि अहवी लसति।
तणियो कनक तमाळ, विलसत वसदेरावउत ॥६॥
माखण रतन मथेह, काढे पैं लीधा किसन।
छाड्यो छाछ करेह, वारिध वसदेरावउत ॥७॥
पग पाताळि पइट्ठ, माथो ब्रह्मड ले मिळै।
दाणव अहवो दिट्ठ, वामण वसदेरावउत ॥८॥
तू आयो तू आइ, सव ही दिन भगता सगळ।
सिमरीजता सहाइ, विलब न वसदेरावउत ॥९॥
आठो पहर अनत, गोविंद तू गावण तणो।
लागो लखमीकत वसनत वसदेरावउत ॥१०॥
आतम काया आथि, मनछा वाचा करमणा।
हरिगै तोरै हाथि, वेच्या वसदेरावउत ॥११॥
त्रिपा करै करतार, दामोदर दासा तणी।
सामि सवाहणहार, वासो वसदेरावउत ॥१२॥
सिरि तुळछी गळ सूत, तोरो ध्रम राजा तणो।
देखे टळिया दूत, वानो वसदेरावउत ॥१३॥
जे हरिमदिर जाइ केसव ची न सुणी कथा।
नगरे काठो न्याय, वेचै वसदेरावउत ॥१४॥

गोविंद जिण गोवाडि, कीजै नह तोरी कथा।
रखिजै ताहि उजाडि, वसती वसदेरावउत ॥१५॥

दसरथदेवउत रा दूहा

पिंड ब्रह्मड पळोइ, कम पासा जुग सारि करि।
केसव भूलउ काइ, दाव न दसरथदेवउत ॥१॥
परठै पाट प्रवीत, बैठा सिखरै बांधियै।
सोहै दुलहणि सीत, दूलह दसरथदेवउत ॥२॥
माहरी बेडी माहि, हरि! जे मिलवाळी हुवै।
कुटुब खुष्या दुख काहि, दाखा दसरथदेवउत ॥३॥
बैठो तू अणबीह, प्रसथानै परमेसवर।
आमू अजवाळीह, दसमी दसरथदेवउत ॥४॥
करि अवइ र कराग, घर रामण भीतरि घटा।
खिवी तुहारअि खागि, दामणि दसरथदेवउत ॥५॥
रोमा लाभै राज, रजा तुम्हारै रामचद।
इवडउ कोइ न आज, दूजो दसरथदेवउत ॥६॥
गिरि महले पुरि ग्रामि, मारगि जळ थळ माहरै।
सरण विदेसै सामि, देसै दसरथदेवउत ॥७॥
प्रभु ताइ किया प्रवीत, आइ समरपिया सखधर।
गाहा, कवित, छद, गीत, दूहा दसरथदेवउत ॥८॥

भागीरथी रा दूहा

कीया पाप जिकेह, जनम-जनम भइ जूजुवा।
तइ भांजिया तिकेह, भेळा ही भागीरथी ॥१॥
जपियो नाम न जीह, निज जळ तन पीधो नही।
देखि स धवळइ दीह, भूला ताइ भागीरथी ॥२॥
माता माणसियाह, आया आणीता सही।
ताहरइ मजण थयाह, भूप थया भागीरथी ॥३॥
माना ला भइ माम, तूझ सनाने सुरसरी।
आफळियइ को आग, भैरवझप भागीरथी ॥४॥
चन्द्रायणि चउरेह, आइज आगउ बाविजइ।
तरये तूझ तणेह, भीना जे भागीरथी ॥५॥
करि-करि घरि-घरि काम, थारइ तर थाका थिया।
वडनदि! दे विसराम, भ्रमिया बहु भागीरथी ॥६॥

काया लागो काट, सिकलीगर सुधरै नहीं।
निरमळ होइ निराट, तू भेट्या भागीरथी ॥७॥
गंगाजळ गुटकेह, निरणै ही लीधो नहीं।
भव-भव में भटकेह, भूत हुवा भागीरथी ॥८॥
मोडो आयो माय, तैं वेगो ही तारियो।
पडियो रहसू पाय, भाटो हुइ भागीरथी ॥९॥
जाळ्या पुन जिकेह, साठ सहस सागर तणा।
तैं तारिया तिकेह, भेळा ही भागीरथी ॥१०॥
साहरउ अद्भुत ताप, मात ससारै मानियउ।
पाणी मुहडइ पाप, जाळइ तू जाह्रणवी ॥११॥
न्हाये पीयू नीर, समरू जपता सुरसरी।
तरत थमू तो तीर, जोवनां तो जाह्नवी ॥१२॥
पुळियै मग पुळियाह, दरम हुवा अदरम हुवा।
जळ पैठे जळियाह, सदारस मंदाकिनी ॥१३॥

वल्लभदेवउत (विट्ठल) रा दूहा

लोहै पारस नीव श्री, खिण अधारैं धाम।
कूडै मो साधो कुमन, मेळणहार प्रणाम ॥१॥
जिग अम्ह सू आलोज, दामोदर दरमाविधी।
सगळा पायो सोज, वाल्हो वल्लभदेवउत ॥२॥
पाए पाणे जाह, ग्रहि वान्हा गोकळ तणा।
वीटळ थादेसाह, आतम उमाहो कियो ॥३॥
वाउवो वीटळ मेह, चलणे चालेसा करै।
काही श्रम्म तणेह, बधणे वाधारू रहै ॥४॥
त्रिपु त्रिथमी पिढ पार, मायोतार मथुरा मढि।
मुयो निलाट मसार, वीटळ निरखवहा रहै ॥५॥
नर मन नीचै ठाम, वसनो वेमासै नहीं।
घाइग मन विसराम, वीटळ ध्यानवहा रहै ॥६॥
अनि त्रिलोक त याह, भोजना मूझै नहीं।
आरीसो आणाह, दीठो वल्लभदेवउत ॥७॥
जिण वीटळ जूयह, पूठे प्रभु का पाम्रियो।
दोलव दीह करेह, आपं अपनम आदयो ॥८॥
सदा सीखे सप्ताह, भूसना आदर मगम।
अभगन गुण्य एहाह, श्री वल्लभउत वान-मनि ॥९॥

अवरा मत्र अपार, कुवा ना कूरम जिही।
बैठा करि बाधार विठ्ठेसर दीधा वयण ॥१०॥
जग वैसे जगतोड रहे, प्रिथ करि छाई परवत।
तू घर वल्लभदेवसुत, वीठळ विया विरवत ॥११॥

डिंगळ गीत

माताजी रो गीत

देवीस्तुति —

आई आवजे, प्रणछळ आवीजै, देवी माद सुमरिया दीजै।
वळतज कवण पुकारू बीजै, काछराय मो ऊपर कीजै ॥१॥
छिलतै तेज रथे पाय छणहण, वेगा खेड नत्रीठा-वाहण।
त्रसकत सेवक करण त्रिभंतीण, आवीजै ग्रहीया उग्राहण ॥२॥
षाळकनै मढ हूतो चाचर, काछ-पचाळ मभे छेडा करि।
हीडळियाळ स देवस-झूलर, आवीजो जन सकट ऊपर॥
स्रवणे साल्हळ सुणो सषाळी, धायज्यो चारण धावळियाळी।
'पीयल' वाहर काछ पचाळी, साल मिळो मुझे हेकण ताळी ॥३॥

भक्ति तथा अध्यात्म

राव कल्याणमल री मिरतू पर कैयोडो गीत

सुखरास रमता पास सहेली, दास खवास मोकळा दाम।
न लियो नाम पखै नारायण, कलिया उठ चालिया बेकाम ॥१॥
माया पास रही मुळकती, सज सुंदरि कीधा सिणगार।
बहु परवार कुटव चौ वाधो, हरि विण गयो जमारो हार ॥२॥
हास हसता रह्या धौळहर, सुखमैं रासत ज्यू ससार।
लाखा धणी प्रयाणे लावै, जाता नह भेजिया जुहार ॥३॥
भाई बध कडूवो भेळो, पिंड न राखो हेक पुळ।
चापरि करै अगनि सिर चाढो, काढो-काढो कहै कुळ ॥४॥
असिया रह्या पग्ग आफळता, मदझर खळहळता मैमत।
वहळो धणी सिंघासण वाळो, पाळो होय हालियो पथ ॥५॥

देहळी लग महळी पिण दौडी, फळसा लग मा-बहण फिरी।
मडहट लगी कुटब चो मेळो, किणियन सुखदुख बात करी ॥६॥
कोमळ अग न सहतो कळिया, तातो झळिया सहै तप।
घडी घडी कर तडो धोवियो, वडी-वडी वाळियो वप ॥७॥
केसर चनण चरचतो काया, भणहणता अपूर भमर।
रजियो राख तणे पूगरणे, घणा मुसाणा बीच घर ॥८॥
खाटी सो दाटी धर खोदे, साथ न चाली हेक सिळी।
पवन ज जाय पवन विच पैठो, माटी माटी माहि मिळी ॥६॥

सोहलो

दुलह क्रिसन दुलहण राणी राधिकाजी, वधावो जसोमति माय।
पाट नै सिंघासण प्रभुजी रै सोवनो, सोवन छत्र तणाय ॥१॥
कुवरी लाडली हो राजा वृषभाण री, आणी आणी नन्दकुमार।
उण गळि सोहै चउकी जडाव री, उण गळि नवसर हार ॥२॥
तोरण घडावो चदण बावनो, वधावो गोकुळजी री प्रोळि।
कळस भरावो केसर कपूर सू, भीति करावाजी खोळि ॥३॥
चौक पुरावा माणक मोतियाजी, रतन भरावा थाळ।
करो नी सहोद्रा बहिणी आरती, आया घर वीर गोपाळ ॥४॥
सोहलो गायो प्रिथीराज राठौड़ जी, कासू कासू पायो दान।
पाई जी खवासी दुहु की दुहु जणा, विहू जण रहियो मान ॥५॥

गीत

हरि ! जैम हलाडो तिम हालीजे, काय धण्या सू जोर क्रिपाळ।
मोळी दिवो, दिवो छत्र माथै, देवो सो लेवू स दयाळ ॥१॥
रीस करो भावै रळियाइत, गज भावै खर चाढ गुलाम।
माहेरै सदा ताहरी माहव, रजा सजा सिर ऊपर राम ॥२॥
मूस उमेद बडी महमहण, सिंघुर पाखं केम सरै।
चीतारो खर सीस चित्र दै, किसू पुतळिया पाण करै ॥३॥
तू सामी पृथुराज ताहरो, वळि बीजा को करै विलाग।
रूडो जिको प्रताप रावळो, भूडो जिको अमीणो भाग ॥४॥

गीत

पथिया रे हेकै प्रीत सदेसो, कहिजौ जाइ आगळि केसो।
नद जसोदा नेह अनेसो, अम्हा कियाऍ एह अदेसो ॥१॥

एक सुदिन जे गोकळ आयौ, धाइ जसोदा अचळ धायौ ।
ग्वाळणिया मिळि मगळ गायौ, वीठळै जाइ समद्र वसायौ ॥२॥
वीमारी हरि करी विडाणी, वाणी ग्ह वदै विसखाणी ।
निधि द्वारिका मडी रजधाणी, रहिया रीझि रुक्मणी राणी ॥३॥
नयणै आसू उर नेसासा, अबळा विह्वळ थई उदासा ।
उर अगलूणी वधै आसा, प्रीयु न छडै जमना पासा ॥४॥

गीत

रखवाळ वडा तो विण कुण राखै, नमो पराक्रम नारियण ।
ओम गोम विच दीसै अवगत, जळ मे प्राजळती जळण ॥१॥
कुण राखै तो विण करणाकर, मान ससार विचार मन ।
अवर धर दीसै आधतर, अव विचै हुवती अगन ॥२॥
जग एकठा किन्है जगजीवन, सुनो किसी परि राखै स्याम ।
जळण अव नह सकै अूझमै, अव सकै नह जळण उझाम ॥३॥
वानी किन्है एकठा वादळ, करणाकर विण कवण करै ।
अव तणै सिर झाळ अूभरै, झाळ तणै सिर अव झरै ॥४॥

यश-गीत

सादू रामै रो

गयौ तू भला भला तू न गयो, धिन धिन तू सादवा धणी ।
जाडै अणी माहेडो जाकळ, अणी करण पातळा अणी ॥१॥
तै लिय आहव राण त्रिजड हथ, ले लाधण सामण न लिया ।
सोहै ससत्र मालिया मात्रव, कउ सोहै न खालिया किया ॥२॥
दळ आपरो नत्रीठो दीन्हो, घाये लीन्हा प्रिमण घणा ।
आवाहरा न वीजा ओपम, ताणा वाळा नसा तणा ॥३॥
चारण जाणै माय चारणा, अवै समै विच नथ अनथ ।
धरमा तणो न बैठो धरणै, रामो बैठो रभ रथ ॥४॥

सेरखांन रो

सिर अूर हुवो चढि खागै सेरा, सासि प्रामियो ज्योति समाथ ।
आदम गयो धूणतो उतवग, हूरा गई मसळती हाथ ॥१॥
कण-कण कमळ कियो अवदूका, पना युद्धाय तो हस पिण ।

तसनी विण ग्रैनयण गयो निण, बेगम रथ गा ग्रसम विण ॥२॥
धमळ पठाण वियो चढि कुटवे, मिळी ज्योति रहमाण मझारि।
गवरा-वर सिणगार पखो गो, निवर गई परचगा नारि ॥३॥

दलपतसिंह रायसिंघोत रो

दला दियती ओठमा जैतमाल दिमा, निस अरध जागवी घाट नमियो।
साहिजादी तणै महल नवसाहुमो, रासउत दोपहर तेण रमियो ॥१॥
रौदघड राव रावळ रमै आधरत, भाग सोमागणी वमध भीरो।
मुगळण आमणे पेम रस माणवा, दलै दीहा भलो मोहत दीन्हो ॥२॥
हारम चीर गजमीर ग्रहत हुये, पहर सुज पाघरै लेत पानी।
जवनणी तणी घड पूगडी जीव ले, होड़ गहणा हराम छोड हानी ॥३॥

पाहू भीमा रो

भरि सूता अपनै भीमा, रूक वहे लूबिया रिम।
विम समरी, तरवार ग्रही विम, विम वाही, वाही सु विम ॥१॥
पोदियै जु सै वियो राव पाहू, भारथ हू अधिको भाराथ।
बामै तणै दाहिणै वळियो, हाथ वैर वाहतै हाथ ॥२॥
तम ढोलिया पछै, डूगरतण, मूतै नींद जुने मभवै।
सारहली चत्रधार सावबो, हेविणि जिणि वारवाण हुवै ॥३॥

महाराणा प्रताप-प्रशस्ति

धर बाकी दिन पाधरा, मरद न मूकै माण।
घणा नरिंदा घेरियो, रहै गिरदा राण ॥१॥
माई अहडा पूत जण, जहडा राण प्रताप।
अकवर सूतो ओझकै, जाण सिराणै साप ॥२॥
चौयो चीतोडाह, वाटो वाजती तणो।
दीसै मेवाडाह, तो सिर राण प्रतापसी ॥३॥
हिन्दूपति परताप, पत राखी हिन्दवाण री।
सहे विपति सताप, सत्य सपथ करि आपणी ॥४॥
पातल खाग प्रवाण, साची सागाहर तणी।
रही सदा लग राण, अकबर सू ऊभी अणी ॥५॥
सह गावडिया साथ, एकण वाडै वाडिया।
राण न मानी नाथ, टाडै साड प्रतापसी ॥६॥

अइरै अकबरियाह, तेज तुहाळै तुरकडा।
नमनम नीसरियाह, राण बिना सह राजवी ॥७॥
वाही राण प्रतापसी, वगतर में वरछीह।
जाणक झींगर जाळ मे, मुह काढ्यो मच्छीह ॥८॥
घाही राण प्रतापसी, वरछी लचपच्चाह।
जाणक नागण नीसरी, मुह भरियो बच्चाह ॥९॥
पातल घड पतसाहरी, अेम विधूसी आण।
जाण चढी कर वदरा, पोथी वेद-पुराण ॥१०॥

गीत

नर जेथ निमाणा, मिलजी नारी, अकबर गाहक वट अवट।
चौहटै तिण जाय'र चीतोडो, वेचै किम रजपूत वट ॥१॥
रोजायता तणे नवरोजै, जेथ मुसाणा जणोजण।
हिन्दूनाथ दिली चै हाटै, पतो न खरचै खत्रीपण ॥२॥
परपच लाज दीठ नह व्यापण, खोटो लाभ अलाभ खरो।
रज बेचवा न आवै राणो, हाटे मीर हमीरहरो ॥३॥
पेखै आप तणा पुरसोतम, रह अणियाळ तणै बळ राण।
खत्र बेचिया अनेक खत्रिया, खत्रवट थिर राखी खूमाण ॥४॥
जासी हाट, बात रहसी जग, अकबर ठग जासी एकार।
रह राखीयो खत्रीध्रम राणै, सारा ले बरतो ससार ॥५॥

प्रकीर्णक

चंपादे के दूहे

चपा चव पासेह, अति अूडइ पथ डोहियो।
दरस विकसती देह, हल आया हरराजउत ॥१॥
चपा तिल अम्ह चीत, वात तुम्होणो वासियो।
हिम जू फूली प्रीत, मोहीयइ हरराजउत ॥२॥
चपा चढी सुवास, मो मन माळी हरतणी।
नैण सुगधी वास, हीय अणइ हरराजउत ॥३॥
चपा चउकइ काढि, उपजइ दाखिजसइ नही।
तन सू तन ची चाढि, काइ हरि सू हरराजउत ॥४॥
चपा चउसर माळ, गूथेनइ घातो गळइ।

काम क्रोध अति रौद्र, ग्राहतै मगि मरिज्जै।
नही सुक्रित वोहित्थ, जेणि अवतवि तरीजै।।
माया समुद्र गोपाळ हरि, दे बूडत आनउत्रण।
करता अनत पार्य न को सभा मित्र वधू सयण।।३।।

कुण्डळिया

अरष रातवर ऊपवै, तिस्त सिर घर सेस।
तुम सर (अेक) राजै नही, अइयो मुरधर देस।।
अइयो मुरधर देस वनरा सुहावणा।
लोई धावळ यम, घटक्का लावणा।।
वेहरलकी नारि कुरंगी नैणिया।
बोलै घर-घर माझ, सुकोक्लि वैणिया।।१।।
कोकिल वैणी कामणी, केंमर वरणै गत्त।
पिव रत्ती अणरत्त पर, हेत हरदे चित्त।।
हेत हरदे चित्त, कै रग सुरंगिया।
लग्गै कचन खंभ, कै वैणी उरग्गिया।।
काजळ टीलो कढाय, कै भ्रह धानख सी।
किर नग्गी समसेर अपच्छर उरवसी।।२।।
अपच्छर जेही उरवसी, रंगी लोई वेस।
पूगळ केरी पदमणी त्रिया मुरद्धर देस।।
त्रिया मुरद्धर देस, कै छैला टोळिया।
यासू सायिवराज, कै मीठी बोलिया।।
पावै गळिया पैठ, कै करवत सधिया।
सायै धूमरपान, जिण्हारा लधिया।।३।।

पिंगल/व्रजभाषा की रचनाएँ

कन्हैयानृत्याष्टक

थागडदिक थागडदिक (दिक) ततथई ततथई, निरतत स्याम सवन सुख दईया।
सुन सगीत निरति (अति) अद्भुत, चकित चद जल उलट चलईया।।
थक मृग थकित थकित सुर गन्ध्रव, सुर विमान सब थकितत रहिया।
सकल प्राण प्रिथीराज सुकवि कहि, वजत मृदग तत नचत कन्हैया।।१।।
द्रुद्रु द्रुक्ट (द्रुकटि) दुरकटि धुनि, धपमप धपमप धपमप धैया।
फिर फिर ताल झझरी झनकत, ततथई ततथई धुनिकनथैया।।

घुंघरू घनन घमर्न पग नेउर, तातो तननन बीन बजैया।
सबल प्राण प्रिथीराज सुकवि कहि बजत मृदग तत नचत कन्हैया ॥२॥

राधा नखशिख षट्पदी

कटि रभ हरि चक्क इदु दीपन भृग विषधर।
तरण तट्ट सिख पुनय दिवस खय अवल मदक्षर ॥
नील सुजल जुप प्रेम सरद निस दभ अकचस।
चदन कनग्रह गयद सबल तकि कपूर विजस ॥
गति जघ तक उर बदन मनि, नासक चख वेणी वरण।
यह रूप भूप प्रिथीराज कह, मिले कान्ह राधा रमण ॥१॥
उरगमीन लोय तडित, कुभ सिह कदल अयुज।
उग्न मध्य वन वनक, प्रखा निसि वरन स्याम धुज ॥
नगर नग पुर तिमर, मुयट तकि • मानसर।
सद कपूर मद झरत, लतायिर चवल मलयतर ॥
कवरि नयन नासक दसन, कुचकटि—जघव चरन।
विमल वाग राधे चली, मनु अनग को जय करन ॥२॥

स्फुट

प्रिथु मोतिन की माल है, प्रोई काचे सागि।
जतन करो झाटा बहुत, तूटेगी कहु लागि ॥१॥
पियु बिछरत प्रियदास सुनि, अिही काम सरि सिद्धि।
मो हियरा महवाल जिम, रहे दुहुगा विद्धि ॥२॥
मो मन तो रगसौं लग्यो, तो तनु नैकु भिद न।
ज्यो गिरिराजहि मत्र बल, सस्त्र घात लागेन ॥३॥
मन बहिया चित्त न करै, चित क्रित करै सु होइ।
इन दुहुवन झगरो परो, प्रिथ प्रभु करै सु होइ ॥४॥

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१ दीक्षित आनन्द प्रकाश—वलि क्रिसन रुक्मणी री
२ साकरिया भूपतिराम—महाकवि पृथ्वीराज राठौड व्यक्तित्व और कृतित्व
३ राजस्थान भारती (पृथ्वीराज राठौड जयन्ती विशेषाक—नवम्बर १९६०)
४ व्यास, भोलाशकर—प्राकृत पंगलम्
५ लाळस, सीताराम—रघुवर जसप्रकास
६ पुरालेख सग्रह—डिग्गी ठिकाने के कागजात
७ मुशी, सोहनलाल—तवारीख बीकानर
८ कुवर, कन्हैयाजू देव—बीकानेर राज्य का इतिहास
९ ओझा, गौरीशकर हीराचद—बीकानर राज्य का इतिहास
१० अकबरनामा
११ माहेश्वरी, हीरालाल—राजस्थानी भाषा और साहित्य
१२ मेनारिया मोतीलाल—राजस्थानी भाषा और साहित्य
१३ राघवदास—भक्तमाल
१४ नाभादास—भक्तमाल
१५ श्यामलदास—वीरविनोद
१६ भाटी, नारायणसिह—जैसलमर री ख्यात
१७ साकरिया बदरीप्रसाद—नैणसी री ख्यात
१८ तैस्सितोरी, एल पी,—वेलि क्रिसन रुक्मिणीरी
(रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल, कलकत्ता)

रावत सारस्वत

१ दळपत विलास
२ डिंगल गीत
३ मीणा इतिहास
४ महादेव पारवती री वेलि
५ दुरसा आढा
६ प्रबन्ध पारिजात
७ चदायन

भारतीय साहित्य के निर्माता

भारतीय साहित्य के इतिहास निर्माण की दीर्घ यात्रा में जिन महान् प्राचीन अथवा अर्वाचीन प्रतिभाओं ने महत्वपूर्ण योग दिया है, उनका परिचय सामान्य पाठकों तक पहुँचाने के उद्देश्य से इस पुस्तक-माला का प्रकाशन आरम्भ किया गया है। इस अन्तर्गत अब तक हिन्दी में निम्नांकित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं :

लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ	हेम बरुआ
बंकिमचन्द्र चटर्जी	सुबोधचन्द्र सेनगुप्त
बुद्धदेव बसु	अलोकरंजन दासगुप्त
चण्डीदास	सुकुमार सेन
ईश्वरचन्द्र विद्यासागर	हिरण्मय बनर्जी
जीवनानन्द दास	चिदानन्द दासगुप्त
काज़ी नज़रुल इस्लाम	गोपाल हाल्दार
महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर	नारायण चौधुरी
माणिक बन्द्योपाध्याय	सरोजमोहन मित्र
माईकेल मधुसूदन दत्त	अमलेन्दु बोस
प्रमथ चौधुरी	अरुणकुमार मुखोपाध्याय
राजा राममोहन राय	सौम्येन्द्रनाथ टैगोर
ताराशंकर बन्द्योपाध्याय	महाश्वेता देवी
श्री अरविन्द	मनोज दास
सरोजिनी नायडू	पद्मिनी सेनगुप्त
तरुदत्त	पद्मिनी सेनगुप्त
गोवर्धनराम	रमणलाल जोशी
मेघाणी	बसन्तराव जटाशंकर त्रिवेदी
नानालाल	उमेद भाई मणियार
नर्मदाशंकर	गुलाबदास ब्रोकर
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	मदन गोपाल
बिहारी	बच्चन सिंह
देवकीनन्दन खत्री	मधुरेश
घनानन्द	लल्लन राय
हरिऔध	मुकुन्ददेव शर्मा
जयशंकर प्रसाद	रमेशचन्द्र शाह
जायसी	परमानन्द श्रीवास्तव
कबीर	प्रभाकर माचवे
केशवदास	जगदीश गुप्त
महावीर प्रसाद द्विवेदी	नन्दकिशोर नवल
नन्ददुलारे वाजपेयी	प्रेमशंकर
प्रेमचन्द	प्रकाशचन्द्र गुप्त
राहुल सांकृत्यायन	प्रभाकर माचवे
रैदास	धर्मपाल मैनी
श्यामसुन्दरदास	सुधाकर पाण्डेय
सुभद्रा कुमारी चौहान	सुधा चौहान
यशपाल	कमला प्रसाद
बी० एम० श्रीकंठय्या	ए० एन० मूर्तिराव

बसवेश्वर	एच० थिप्पेरुद्रस्वामी
विद्यापति	रमानाथ झा
ए० आर० राजराज वर्मा	के० एम० जॉर्ज
चन्दु मेनन	टी० सी० शंकर मेनन
कुमारन् आशान	के० एम० जॉर्ज
महाकवि उल्लूर	सुकुमार अषिकोड
वल्लत्तोल	बी० हृदयकुमारी
दत्तकवि	अनुराधा पोतदार
ज्ञानदेव	पुरुषोत्तम यशवन्त देशपाण्डे
हरिनारायण आपटे	रामचन्द्र भिकाजी जोशी
केशवसुत	प्रभाकर माचवे
नामदेव	माधव गोपाल देशमुख
नरसिंह चिंतामण केलकर	रामचन्द्र माधव गोले
श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर	मनोहर लक्ष्मण वराडपांडे
तुकाराम	भालचन्द्र नेमाडे
फकीरमोहन सेनापति	मायाधर मानसिंह
राधानाथ राय	गोपीनाथ महन्ती
सरलादास	कृष्णचन्द्र पाणिग्राही
भाई वीर सिंह	हरबंस सिंह
दुरसा आढा	रावत सारस्वत
जाम्भोजी	हीरालाल माहेश्वरी
मुंहता नैणसी	ब्रजमोहन जावलिया
प्रिथीराज राठौड़	रावत सारस्वत
सूर्यमल्ल मिश्रण	विष्णुदत्त शर्मा
बाणभट्ट	के० कृष्णमूर्ति
भवभूति	गो० के० भट
जयदेव	सुनीति कुमार चटर्जी
कल्हण	सोमनाथ धर
क्षेमेन्द्र	व्रजमोहन चतुर्वेदी
माघ कवि	चण्डिकाप्रसाद शुक्ल
सचल सरमस्त	कल्याण बू० आडवाणी
शाह लतीफ	कल्याण बू० आडवाणी
भारती	प्रेमा नन्दकुमार
इलंगो अडिगल	मु० वरदराजन
कम्बन	एस० महाराजन
माणिक्कवाचकर	जी० वनमीकनाथन
नम्मालवार	ए० श्रीनिवास राघवन
पोतन्ना	दिवाकर्ल वेंकटावधानी
वेदम वेंकटराय शास्त्री	वेदम वेंकटेश्वर शास्त्री (कनिष्ठ)
गुरजाड	नार्ल वेंकटेश्वर राव
वीरेशलिंगम्	नार्ल वेंकटेश्वर राव
वेमना	नार्ल वेंकटेश्वर राव
ग़ालिब	[illegible]